* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ५१] * * * [संख्या ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६७,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११, जून १९८५

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें १० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ३०.०० रु०
(४ पौण्ड)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

देवताओंके द्वारा भगवान्की स्तुति
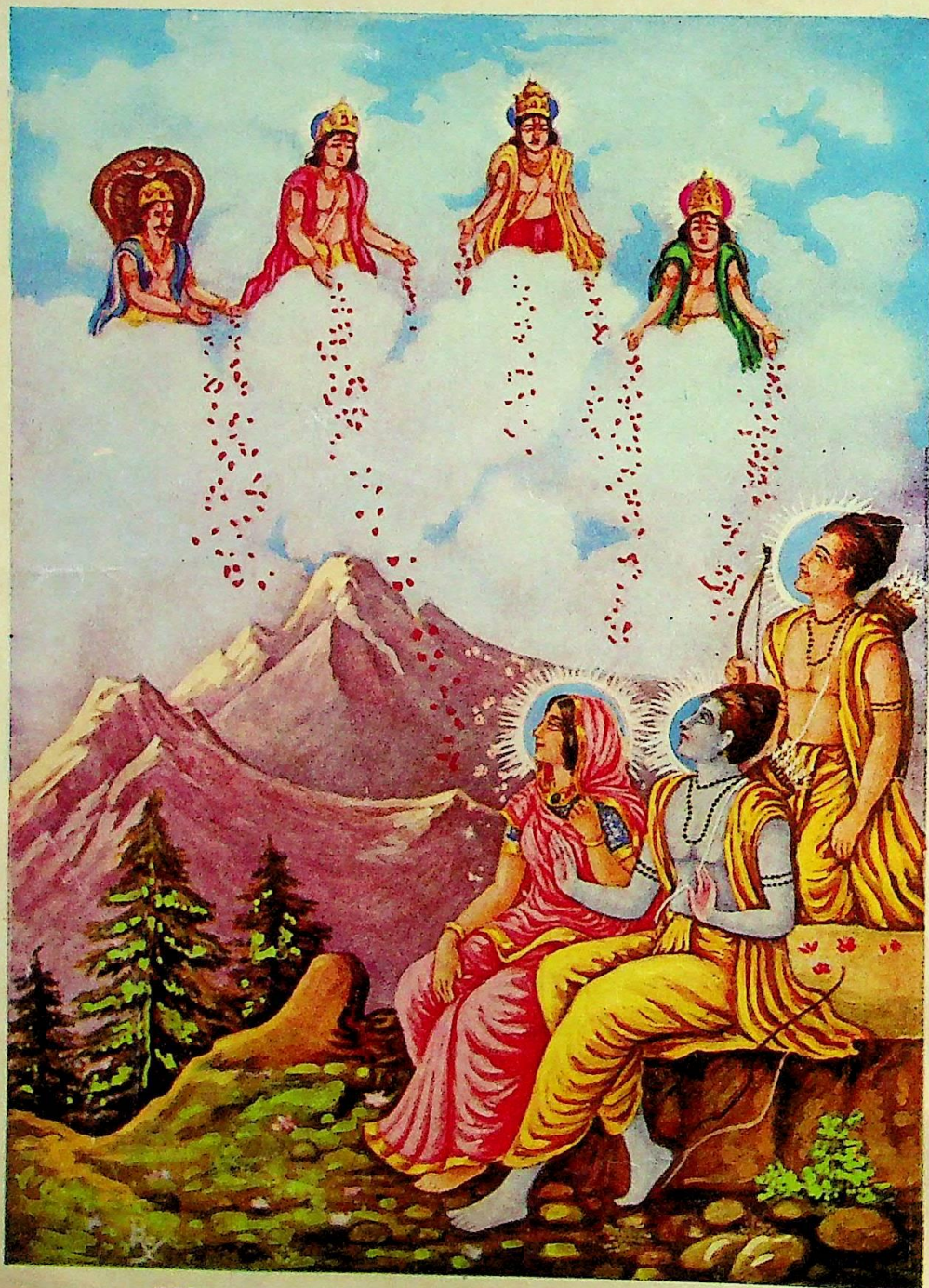
बरषि सुमन कह देवसमाजू । नाथ सनाथ भये हम आजू ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५९ } गोरखपुर, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२११, जून १९८५ ई० { संख्या ६
पूर्ण संख्या ७०३

'नाथ सनाथ भए हम आजू'

लखन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत ।
सोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत ॥
अमर नाग किंनर दिसिपाला । चित्रकूट आए तेहि काला ॥
राम प्रनामु कीन्ह सब काहू । मुदित देव लहि लोचन लाहू ॥
बरषि सुमन कह देव समाजू । नाथ सनाथ भए हम आजू ॥

कल्याण

मन्दिरमें प्रभुके श्रीविग्रहके सामने हम विविध सामग्रियोंसे उनकी पूजा करते हैं, उन्हें धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल अर्पण करते हैं, उनकी आरती उतारते हैं, उनके लिये सुन्दर शय्या बिछाकर उन्हें शयन कराते हैं तथा फिर बड़े भावसे बीजना (पंखा) डुलाकर उनकी सेवा करते हैं । ऐसा करना बड़े सौभाग्यकी बात है; अवश्य-अवश्य ऐसा करना चाहिये। पर यदि इस पूजाके साथ ही हम विश्वरूप भगवान्‌की पूजाको भी अपनी दिनचर्यामें सम्मिलित कर लेते तो हमारा जीवन फिर पूजामय बन जाता, हमारी पूजा सर्वाङ्गीण पूजा हो जाती ।

यदि हृदयमें प्रभुकी ज्योति जग गयी है तथा उस ज्योतिके आलोकमें मन्दिरके देवता श्रीविग्रहके रूपमें विराजित प्रभु हमारी दृष्टिके सामने सर्वथा चिन्मय बन गये हैं, एक क्षणके लिये भी हमें यह अनुभूति नहीं होती कि ये धातु-पाषाण आदिसे बनी हुई मूर्ति हैं, तब तो कुछ कहना बनता ही नहीं; क्योंकि फिर तो हमारे-द्वारा विश्वरूप प्रभुकी उपेक्षा सम्भव ही नहीं । हमारी दृष्टिमें विश्वकी सत्ता ही नहीं रहेगी, एकमात्र प्रभु-ही-प्रभु रहेंगे और यदि कहीं विश्वकी सत्ता रहेगी भी तो विश्वके अणु-अणुमें हमें अपने इष्टदेव ही भरे दीखेंगे । जितने आदरसे, जिस प्रेमसे हम मन्दिरमें भेंट चढ़ायेंगे, उतने ही आदरसे, उसी प्रेमसे विश्वरूप प्रभुको भी हम यथायोग्य, यथासम्भव उपहार समर्पित करेंगे; किंतु जबतक यह ज्योति नहीं जगी है, तबतक सावधान होकर हमें अपनी पूजाको विशुद्ध एवं परिपूर्ण बनानेकी चेष्टा करनी पड़ेगी ।

हम देखते हैं कि पूजा समाप्त करनेके बाद जब हमें भूखकी अनुभूति होती है, तब हम स्वयं प्रसाद ग्रहण करते हैं तथा इष्ट-मित्रोंको भी प्रसाद देते हैं । हमें जब शीतका अनुभव होता है, तब हम अपने अङ्गोंको आवश्यक वस्त्रोंसे ढँकते हैं । जब हमारे शरीरमें रोग होते हैं, तब उनको दूर करनेके लिये हम ओषधियोंका भी सेवन करते हैं; किंतु ऐसा करते समय सभी तो नहीं, पर हममेंसे अधिकतर इस बातको भूल जाते हैं कि अभी-अभी हम जिन प्रभुकी पूजा मन्दिरमें कर आये हैं, वे ही प्रभु पुनः हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये विविध रूप धारण किये बाहर खड़े हैं । वे ही स्वच्छ शुद्ध वस्त्र धारण किये, सिरपर तिलक लगाये, निर्मल पवित्र धातु-पात्र हाथमें लिये हुए, संत-मण्डलीके रूपमें प्रसाद पानेकी शान्तिसे बाट देख रहे हैं तथा वे ही अपने अङ्गोंमें चिथड़ा लपेटे, धूलमें सने, टीनका टूटा डिब्बा हाथमें लिये, कंगाल बनकर कुछ भी दे देनेके लिये करुण पुकार मचा रहे हैं ।

यदि हम प्रभुको इन सभी रूपोंमें पहचान पाते तो जो सुख हमें स्वयं प्रसाद पानेमें, जो आदर-प्रेम-भाव अपने इष्ट-मित्रोंको प्रसाद देनेमें होता है, उससे बहुत अधिक सुख एवं प्रेमकी अनुभूति भिखारीके टीनवाले पात्रमें भोजन परसते समय होती । जो रस हमें स्वयं ऊनी कपड़े ओढ़नेपर ठंढ मिटनेसे प्राप्त होता है, उससे बहुत अधिक बढ़कर रस हमें उस दीन-हीन, सर्दीसे ठिठुरते हुएको कपड़ा देनेमें प्राप्त होता । जो तत्परता अपने रोगको दूर करनेके लिये हममें होती है, उससे बहुत अधिक मात्रामें लगन उस रुग्ण अनाथ व्यक्तिकी समुचित व्यवस्था एवं सेवा करनेमें होती । पर हममें तो इनसे विपरीत भाव होते हैं । इसीलिये हमारी पूजा भी अधूरी ही रह जाती है ।

—'शिव'

भगवद्-ज्योतिका प्रकाश

जब हृदयमें भगवान्‌की ज्योति जल उठती है, तब दीखता है कि समस्त विश्व प्रभुमें ही स्थित है एवं विश्वके कण-कणमें प्रभु अवस्थित हैं । फिर अपने-परायेका भेद जाता रहता है, शत्रु-मित्रकी भावना नष्ट हो जाती है, सर्वत्र एक अखण्ड आत्मसत्ता, भगवत्-सत्ताकी ही अनुभूति होती है । उस स्थितिमें सागरकी लहरें, पक्षियोंका कलरव, वृक्षोंकी ओरसे झुर-झुरकर बहनेवाली वायु, पर्वत-शिखरोंपर झरता हुआ झरना, पर्वतोंसे निकली नदियाँ, सूर्यकी प्रकाशमयी किरणें, चन्द्रकी शीतल चाँदनी, नीला आकाश, नीले-उजले-काले-पीले बादल, हरे-भरे खेत, रंग-बिरंगे फूल, फूलोंपर गुन-गुन करते हुए भौंरे—प्रत्येक वस्तु हमारे नेत्रोंके सामने भगवान्‌की परम सुन्दर आनन्दमयी लीलाके अङ्ग बनकर—भगवान्‌का रूप बनकर उपस्थित होती है। इसी प्रकार शरीरकी व्याधि मिटकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति, अन्न-वस्त्रके अभावमें होनेवाला कष्ट, अनेक स्वादिष्ट पदार्थोंके भोजन करनेका एवं सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित होनेका सुख, जनताके द्वारा किया हुआ अपमान, जनताके द्वारा दी हुई फूलमालाओंकी भेंट, सर्वत्र फैली हुई निन्दा, सर्वत्र होनेवाली प्रशंसा, पुत्रके जन्मका उत्सव, जवान बेटेकी मृत्यु, बसे हुए गाँवोंका उजड़ जाना, उजड़े हुए गाँवोंका बस जाना—इन सबमें हमें भगवान्‌का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होता है, भगवान्‌की लीला दीखती है । फिर हमारे ऊपर कोई बन्धन नहीं रहता । यह करो, यह मत करो, ऐसे करो, ऐसे मत करो, इस समय करो, इस समय मत करो—यह नियन्त्रण उठ जाता है; क्योंकि हमारी चेष्टाएँ भी उस अवस्थामें कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखतीं, हमारे अंदरसे भी भगवान्‌की ही इच्छा व्यक्त होती है, अतः ये भी उस महान् लीलाकी अङ्गभूत बन जाती हैं ।

किसी गुफामें हजारों वर्षोंसे, लाखों वर्षोंसे अन्धकार भरा हो, किंतु हम किसी प्रकार एक ऐसा छेद बना दें कि सूर्यकी किरणें प्रवेश करने लग जायँ, फिर तो गुफाका अन्धकार उसी क्षण जाता रहेगा । लाखों वर्षोंसे रहनेवाला अन्धकार यह नहीं कहेगा कि मैं यहाँ इतने दिनोंसे था, अतः मैं तो धीरे-धीरे जाऊँगा; प्रकाश आया कि अन्धकार विलीन हुआ । इसी प्रकार हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योतिके उदय होनेभरकी देर है । जिस क्षण वह उदित हुई कि हमारा अनादिकालीन अज्ञान भी नष्ट हो जायगा तथा हम सर्वत्र भगवान्‌की सत्ताका अनुभव कर निहाल हो जायँगे ।

किंतु जबतक ऐसा नहीं हुआ है, अज्ञानका अँधेरा नहीं मिटा है, प्रभुकी ज्योति नहीं उदित हुई है, तबतक हमपर नियमोंका बन्धन है कि हमें अमुक व्यवहार ऐसे इस समय करना चाहिये, इसका परिणाम सुन्दर होता है, अमुक व्यवहार ऐसे इस समय नहीं करना चाहिये, इसे करनेका फल बुरा होता है । हम नहीं जानें, नहीं भी स्वीकार करें, मनमाना करने लग जायँ, फिर भी जो नियमका बन्धन है, वह तो रहेगा ही । जो तैरना नहीं जानता, उसे गहरे जलमें नहीं जाना चाहिये, जायगा तो डूब जायगा—यह नियम तैरना न जाननेवाले अबोध शिशुपर, उसके नहीं माननेपर भी गहरे जलमें जानेसे लागू होता ही है । ऐसे ही हमारे न माननेपर भी नियम तो काम करता ही है, अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि हम अवश्य लागू होनेवाले नियमोंको पहलेसे ही मानकर चलें, जगन्नियन्ता प्रभुके द्वारा निर्धारित नियमोंको स्वीकार करते हुए ही आगे बढ़ें । इसका परिणाम यह होगा कि हमारी जीवन-यात्रा सुख-शान्तिसे आगे बढ़ेगी, परमानन्दमय प्रभुसे मिलनेका प्रशस्त मार्ग हमें प्राप्त हो जायगा तथा अन्तमें हम उनसे मिलकर कृतार्थ हो सकेंगे।

हम कह सकते हैं कि जब ऐसी बात है, तब हम कैसे निर्णय करें कि हमें कौन-सा व्यवहार कब और कैसे करना चाहिये तो इसके लिये यह एक व्यापक नियम बना लें कि हम जो व्यवहार जैसे और जिस समय दूसरोंके द्वारा अपने प्रति आचारित देखना चाहते हैं, वही व्यवहार उसी प्रकारसे उस समय हमें दूसरोंके प्रति करना चाहिये। इसका परिणाम सुन्दर होगा। इसी प्रकार जो व्यवहार जिस कालमें जिस ढंगसे अपने प्रति होना हम पसंद नहीं करते, उसे दूसरोंके प्रति उसी ढंगसे वैसे ही समयमें कभी नहीं करना चाहिये। उसे करनेका फल बुरा ही होगा। इस नियमको धारण कर लेनेपर निर्णय होनेमें न तो देर लगेगी, न कभी भूल ही होगी।

अब सोचकर देखें—हम चाहते हैं कि सभी सदा सब बातोंमें हमसे सत्य बोलें, कोई व्यक्ति कभी किसी प्रसङ्गमें हमसे झूठ न बोले। लेन-देनमें सभी हमसे सच्चा व्यवहार करें—साग बेचनेवाले हमें सच्चा भाव बतायें, पूरा तौलें, फल बेचनेवाले अच्छे फल दें, ठीक-ठीक मूल्य लें, मोदी सभी वस्तुएँ अच्छी दें और उचित मूल्य लें, कोई भी हमें तनिक भी न ठगे। सभी हमसे सरल व्यवहार करें, कोई भी हमसे कपट न करे। हम ऐसा चाहते हैं या नहीं? कोई भी यदि कभी किसी प्रसङ्गमें हमसे झूठ बोलता है, हमें ठगता है, हमसे कपट करता है तो हमें बुरा लगता है या नहीं? तो बस, फिर दृढ़तापूर्वक व्रत लेकर हम भी यह करें कि सदा सभी बातोंमें सबसे सत्य बोलें, किसीसे भी कभी किसी प्रसङ्गमें झूठ न बोलें। सबके साथ सच्चा व्यवहार करें, किसीको कभी न ठगें। हमारा सबके प्रति सरल व्यवहार हो, किसीके प्रति कपट न हो।

हम चाहते हैं कि सभी जगह हमें सबके द्वारा अधिक-से-अधिक शारीरिक सुविधा प्राप्त हो, कोई भी हमें कभी शारीरिक कष्ट न दे। हम जहाँ जायँ वहीं अमृतभरी वाणीसे हमारा स्वागत हो, सबकी वाणीमें हमारे प्रति आदर भरा हो, प्रेम भरा हो, कोई भी हमें कटु वाणी न कहे, हमारा चित्त न दुखाये, मनसे सभी हमारा मङ्गल चाहें, हमारे लिये शुभ चिन्तन करे, कोई भी हमारा अनिष्ट न सोचे। बस ठीक इसी प्रकार हमें भी चाहिये कि अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक प्राणीको हम अधिक-से-अधिक शारीरिक सुविधा दें, किसीको भी हमारेद्वारा शारीरिक कष्ट न पहुँचे। जो भी हमसे मिलें, उनके लिये हमारी वाणीमें मधु भरा हो, मधुभरी वाणीसे हम उनका आतिथ्य करें, उनके साथ बातचीतमें हमारी वाणीसे आदर एवं प्रेम झरता रहे, किसीके प्रति भूलकर भी हम कटु वाणीका प्रयोग न करें, कड़वी बात कहकर किसीका भी चित्त न दुखायें। मनसे सभीके लिये मङ्गल सोचें, सभीके लिये शुभ भावना करें, भूलकर भी कभी किसीका अमङ्गल, अशुभ, अनिष्ट होनेकी इच्छा न करें।

हमपर जब विपत्ति आती है, कोई कष्ट आता है, उस समय इच्छा होती है कि सभी हमें हृदयसे लगा लें, सभी हाथ बढ़ाकर हमारे आँसू पोंछें, हमारे पास जो वस्तुएँ नहीं हैं, उनकी पूर्ति कर दें, उस समय कोई हमारी उपेक्षा न करे। जब हमें ऐसी इच्छा होती है, तब हमारे जीवनका भी यही व्रत होना चाहिये कि किसीको विपत्तिमें पड़ा देखकर—विशेषतया जिसकी सँभाल करनेवाला कोई न दीखे—उसे हम अपने हृदयसे लगा लें, उसके आँसू पोंछनेकी यथासाध्य चेष्टा करें, उसके जो अभाव हैं, यदि हम उन्हें पूरा कर सकते हों तो अवश्य पूरा कर दें, ऐसा कोई भी व्यक्ति ध्यानमें आनेपर हम उसकी उपेक्षा कदापि न करें।

सारांश यह कि जबतक हमें सर्वत्र भगवद्भावना नहीं होने लगती, तबतक हमपर नियमोंका बन्धन है और इसीलिये हमें सावधान होकर उपर्युक्त कसौटीपर

अपनी चेष्टाओंको कसकर ही व्यवहारमें उतरना चाहिये । पर इतनेसे ही हम भगवान्के आलोकमें जा पहुँचेंगे, ऐसी बात नहीं है । इसके लिये हमें और भी आगे—बहुत आगे बढ़ना पड़ेगा ।

यहाँ जगत्का अत्यन्त स्थूल प्रकाश हमें कैसे मिलता है, हम इसपर विचार करें—दीपक हो, स्नेह (घृत या तेल) हो, स्नेहमें सनी बत्ती हो एवं फिर इस बत्तीका किसी जलते हुए दीपसे संयोग हो जाय, इतनी बात होनेपर हमें जगत्का स्थूल आलोक प्राप्त होता है । आलोक प्राप्त होनेपर भी यदि हमारी आँखें नहीं हैं—आँखें नष्ट हो गयी हैं या उनमें मोतियाबिन्द हो गया है तो हमें उस ज्योतिकी अनुभूति नहीं हो सकती । अतः सबसे पहले आँखें होनी चाहिये । इसी प्रकार प्रभुका आलोक पानेके लिये भी एक विशेष प्रकारके दीप, स्नेह आदि एवं आलोक-दर्शनके उपयुक्त आँखें आवश्यक हैं; हमारे अंदर श्रद्धा-विश्वासकी निर्मल आँखें हों, इन्द्रियाँ दीपका काम करने लगें, मनरूपी बत्ती उसके संयोगमें आकर स्निग्ध बन जाय तथा यह बत्ती प्रभुका आलोक-विस्तार करनेवाले किसी सच्चे संतरूपी प्रज्वलित दीपसे एक बार जुड़ जाय तो भगवान्की ज्योति हमारे अंदर भी निश्चय प्रकट हो जायगी ।

(क्रमशः)

भगवान् रामका अनुपम सौन्दर्य

जानकी-बर सुंदर, माई ।
इंद्रनील-मनि-स्याम सुभग, अँग-अंग मनोजनि बहु छबि छाई ॥ १ ॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत, कछुक अरुनाई ।
कंज-दलनिपर मनहु भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई ॥ २ ॥
पीन जानु, उर चारु, जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई ।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई ॥ ३ ॥
किंकिनि कनक कंज अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई ।
गई न उपर, सभीत नमित मुख, बिकसि चहूँ दिसि रही लोनाई ॥ ४ ॥
नाभि गँभीर, उदर रेखा बर, उर भृगु-चरन-चिह्न सुखदाई ।
भुज प्रलंब भूषन अनेक जुत, बसन पीत सोभा अधिकाई ॥ ५ ॥
यग्योपबीत बिचित्र हेममय, मुक्तामाल उरसि मोहि भाई ।
कंद-तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु रुचिर बलाक पाँति चलि आई ॥ ६ ॥
कंबु कंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसननकी रुचिराई ।
पदुमकोस महँ बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित-अरुन-रुचि लाई ॥ ७ ॥
नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छबि पाई ।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई ॥ ८ ॥
भाल तिलक, कंचन किरीट सिर, कुंडल लोल कपोलनि झाँई ।
निरखहिं नारि-निकर बिदेहपुर निमि नृपकी मरजाद मिटाई ॥ ९ ॥
सारद सेस संभु निसि-बासर चिंतत रूप, न हृदय समाई ।
तुलसिदास सठ क्यों करि बरनै यह छबि, निगम नेति कह गाई ॥ १० ॥

श्रीमद्भागवतमें योगत्रय

(१)

(भागवतके एकादश स्कन्धमें आये योगत्रयका विवेचन)

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

(श्रीमद्भागवतके आधारपर कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग—योगत्रयका मार्मिक वर्णन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा अत्यन्त सरल भाषामें किया गया है। यह लेख सर्व-साधारणके लिये कल्याणकारी तो है ही, साथ ही अबतक अप्रकाशित होनेके कारण नवीन भी है।—'सम्पादक')

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(११ । २० । ६)

'उद्धव! मनुष्योंके कल्याणके लिये मैंने तीन प्रकारके योग बतलाये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इनके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

इसपर कोई शङ्का करे कि भगवान्‌ने यह कैसी बात कही कि इनके सिवा दूसरा उपाय नहीं है; ध्यानसे भी तो कल्याण हो सकता है? इसका समाधान यह है कि ध्यान भक्तिके अन्तर्गत है, ध्यान भक्तिका एक अङ्ग है एवं दूसरे सब उपाय इन तीनोंके अन्तर्गत आते हैं। गीता अ० १३ श्लोक २४ में देखें—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

'हे अर्जुन! उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और दूसरे कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।'

भागवतके एकादश स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णके कथनका यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि जिन्हें कर्मोंसे पूर्णतया वैराग्य हो गया है, उन पुरुषोंके लिये ही ज्ञानयोग है अर्थात् जिनके चित्तमें एकदम पूर्ण वैराग्य है, वे ही ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी भक्ति और कर्म दोनोंमें प्रीति है उनके लिये नहीं। कर्मोंमें जिनकी आसक्ति है, कामना है, उनके लिये कर्मयोग है। कामनाका त्याग करके कर्म करे—यह कर्मयोगका मर्म है। कामनाके त्यागसे अन्तःकरण पवित्र होता है और उससे परमात्मामें प्रीति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक कर्मोंमें वैराग्य न होगा, तबतक ज्ञानयोगमें अधिकार नहीं है।

इनके सिवा ऐसे पुरुष भी हैं जिनकी न कर्मोंमें पूर्ण आसक्ति है, न पूर्ण वैराग्य। ऐसे पुरुष भक्तियोगके अधिकारी हैं। यहाँ यह अभिप्राय लेना चाहिये कि कर्मोंसे जबतक वैराग्य नहीं होता, तबतक आसक्तिका त्यागकर कर्म करे। जो पाप नहीं करता और निष्काम कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा वह ज्ञानयोगद्वारा मुक्तिको प्राप्त होता है। किसी भी मार्गसे जाय, तत्त्व-ज्ञान तो उसे होता ही है। यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान और ज्ञानयोग (ज्ञानमार्ग) दोनों अलग-अलग भिन्न पदार्थ हैं।

कर्म, भक्ति और ज्ञानको लेकर तीनों योग बतलाये गये हैं। अभेदोपासना होनेसे ज्ञानयोग, भक्तिकी प्रधानता होनेसे भक्तियोग और कर्मकी प्रधानता होनेसे कर्मयोग है।

भगवान्‌ने गीतामें भक्तिप्रधान कर्मयोगका स्वरूप जाननेके लिये भक्तके लक्षण यों बतलाये हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(११ । ५)

'अर्जुन! जो पुरुष मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

इसमें दो बातें हैं—एक तो राग-द्वेषका त्याग करना और दूसरी तीन बातोंका पालन करना—(१) भगवान्‌के लिये कर्म करना, (२) भगवान्‌के परायण होना और (३) भगवान्‌का भक्त होना।

'मत्कर्मकृत्' में भक्तिकी प्रधानता है। यहाँ भक्तिको लिये हुए कर्म है। कर्म गौणरूपसे है और भक्ति प्रधानरूपसे और मेरे परायण हो जा, मेरे अर्थ कर्म कर अर्थात् सब क्रियाएँ भगवान्‌में अर्पण कर दे या मेरे लिये ही कर्म कर। इसमें सभी बातें ले लें। मेरी आज्ञाका पालन करे, मेरे (भगवत्-) विषयक कर्म करे और मेरे लिये ही करे।

'मत्परमः' अर्थात् भगवान्‌के ही परायण (शरण) हो जाना, फिर भगवान् चाहे मारें, काटें, जलावें, जो कुछ करें, उसे ही ठीक समझकर कठपुतलीकी भाँति अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना।

'मद्भक्तः'—अर्थात् प्रेमसे भगवान्‌के परायण होना, जबरदस्तीसे नहीं। इसमें भी सूत्ररूपसे कर्मयोग भक्तियोगमें आ गया, अर्थात् कर्मयोग यहाँ भक्तिके अङ्गरूपसे है। यह हुई भक्तियोगकी बात। इसी प्रकार गीतामें कर्मयोगमें भक्तिका गौणरूपसे समावेश है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२। ४७-४८)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो। हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

ये कर्मयोगके श्लोक हैं पर इनमें भी भक्ति गौणरूपसे झलक रही है। भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना है—यह कर्मयोगमें गौणरूपसे भक्ति है। भागवतमें उद्धवजीके प्रति भगवान् तीनोंको अलग-अलग करके बतला रहे हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग।

इन तीनोंकी सीढ़ी (क्रम) कैसी होनी चाहिये? तो इसका प्रकार इस तरह समझे कि पहले कर्मयोग उसके पश्चात् भक्तियोग और उसके बाद ज्ञानयोग।

इसपर कोई कहे कि हम पहले ज्ञानयोगको ले लें तो क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यही है कि ज्ञानयोगका सिद्धान्त अभेद है। जब संसारकी कोई वस्तु ही न रही, उसका सर्वथा अभाव हो गया, तब ऐसी अवस्थामें बादमें भक्ति और कर्मकी गुंजाइश ही कहाँ रही!

अतः पहले कर्मयोग, फिर भक्तियोग और फिर ज्ञानयोग—यही क्रम उचित है। इस तरह क्रमशः सीढ़ियोंसे भी भगवत्प्राप्ति होती है और कोई इनमेंसे एकको भी स्वतन्त्ररूपसे करता रहे तो कल्याण हो सकता है। इस दृष्टिसे तीनों साधन स्वतन्त्र भी हैं और परतन्त्र भी।

सीढ़ियोंमें उलट-फेर भी हो सकता है। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि सीढ़ियोंके क्रमसे ही मुक्ति होती है। केवल निष्काम-कर्म करता रहे तो भी मुक्ति मिल सकती है। इसका उदाहरण भी भगवान् गीतामें 'जनकादयः' कहकर देते हैं कि जनक आदि परम मुक्तिको प्राप्त हो गये जिनके समीप शुकदेवजीके सदृश ज्ञानी मुनि भी ज्ञान सीखने पधारे थे। केवल भक्तिसे भी मुक्ति हो सकती है। जब केवल कर्मसे हो जाती है तो भक्तिसे हो जाय तो बात ही क्या है। गीतामें भगवान् भक्तिकी प्रशंसा कर रहे हैं। यहाँतक कि सभी अध्यायोंमें भक्तिद्वारा भगवत्प्राप्ति बतलायी है। सूत्ररूपसे कहीं-कहींके एक या दो श्लोकोंका संकेत दे देता हूँ; क्योंकि सभी श्लोक देनेसे प्रसङ्ग बहुत बढ़ जायगा। पाँचवें अध्यायके २९वेंमें, छठे अध्यायके ३०वेंमें, सातवेंके १४वें और ३०वेंमें, आठवेंके १३वें, १४वेंमें, नवेंके १४वें, २६वें, ३४वेंमें, दसवेंके ९वें, १०वेंमें, बारहवेंके ६ठेमें, चौदहवेंके २६वेंमें और पंद्रहवेंके १९वें श्लोकोंमें भक्तिका वर्णन है।

इसी प्रकार सभी अध्यायोंमें भक्तिकी महिमाका वर्णन मिलता है। इसके सिवाय भक्तिकी महिमा तो रामायण, भागवत आदि सभी शास्त्रोंमें भी है। (क्रमशः)

कल्याणका मार्ग

(ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

संसारकी वस्तुएँ, संसारके सुख बड़े ही भव्य एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है, मानो क्षणिक प्रयत्नसे अथवा बिना प्रयत्नके ही अपार सुख-महोदधि प्राप्त हो जायगा। जिसके चमत्कार और वैभवका अन्त ही नहीं है, वह भगवान् तथा भगवत्सम्बन्धी सुख रूखा-सूखा-सा प्रतीत होता है, उस मार्गमें बड़ी कठिनाई भी प्रतीत होती है। पद-पदपर कण्टकाकीर्ण भयंकर गर्त प्रतीत होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो महामहाप्रयत्न करनेपर भी तो शुष्क नगण्य-सी ही वस्तु प्राप्त होगी; परंतु जब प्राणी संसारकी ओर चल पड़ता है, तब उसके दुःख और कठिनाइयोंका अन्त ही नहीं होता। जो चमकीली सुखमय वस्तु प्रतीत होती थी, वही दुःखप्राय प्रतीत होती है। जैसे पिपासासे व्याकुल हरिण मरु-मरीचिकामय जलके लिये जितना-ही-जितना आगे दौड़ता है, वह उतना-ही-उतना दूर होता जाता है—यही स्थिति सांसारिक प्रलोभनोंकी है; परंतु भगवान्‌की ओर चल पड़ते ही कठिनाइयाँ मिटती-सी अनुभूत होती हैं, कण्टक फूल-से हो जाते हैं। जितने-जितने पग आगे रखे जाते हैं, भगवान् और भगवत्सुख समीप आते हुए-से प्रतीत होते हैं, रूखी-सूखी-सी प्रतीत होनेवाली साधनाएँ बड़ी ही सरस एवं मधुर प्रतीत होने लगती हैं।

मायामय व्यामोह दुरन्त है। प्रभु-कृपाके बिना कौन क्या कर सकता है? कहाँ सुख? कहाँ शान्ति? सुविचार, सुप्रवृत्ति या परम निवृत्ति—सब कुछ प्रभुकृपा-साध्य है। इधर-उधर भटकते हुए पक्षीको जैसे एकमात्र आधारभूत भूमि ही विश्रान्तिस्थान है, वैसे ही भटकते हुए जन्तुका विश्रामस्थल भगवान् ही हैं। वहीं वास्तविक सुख है। **'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'**—प्रथम तो जो विषके समान प्रतीत हो, परंतु परिणाममें अमृत-तुल्य हो, वही सात्त्विक सुख कहलाता है। कारण भी स्पष्ट है। जिस प्रकार निम्बकीटको सितारस-मधुरता उद्वेजक प्रतीत होती है, उसी प्रकार संस्कारप्राबल्यके कारण वैषयिक सुखानुभवी प्राणीको निष्प्रपञ्च ब्राह्मसुखका अनुभव अनुकूल प्रतीत नहीं होता। विषयों एवं तदनुगामी इन्द्रियोंका प्रचार अवरुद्ध हो जानेसे मनमें भी उद्वेग होता है। स्वभावतया यह स्थिति अनुकूल नहीं है। लक्ष्य, निष्ठा, प्रज्ञाके भी विचलित हो जानेकी सम्भावना इस मार्गमें बनी रहती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २। १७)

विषयचारी इन्द्रियोंका जब मन अनुगमन करता है, तब वही मन ब्रह्मनिष्ठ प्रज्ञाका उसी प्रकार हरण कर लेता है, जैसे समुद्रमें नावको वायु हरण कर लेती है। इस मार्गमें कथमपि शान्ति नहीं है। एक बार हठात् विषयविमुख होकर इन्द्रिय, मन, बुद्धिको अवरुद्ध करके भगवत्परायण होनेसे तत्काल कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है, परंतु वस्तुतः भगवदाभिमुख्य होते ही क्षण-क्षणमें शान्तिका अनुभव होने लगता है। जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंतक भी विषयोंके भोगसे कभी शान्ति नहीं होती। पृथ्वीभरमें जो भी व्रीहि, यव, हिरण्य, पशु, स्त्रियाँ हैं, उन सबकी प्राप्ति एक व्यक्तिको हो जाय तो भी सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। अतः हठात् इनसे आँख मीचना ही अच्छा है। आँख मीचकर, निराश्रय होकर सर्वाधार, अशरण-शरण, अकारणकरुण, करुणावरुणालय प्रभुके चरणोंका सहारा लेनेसे ही कल्याण है।

भगवान्‌के दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[प्रस्तुत लेख श्रद्धेय श्रीभाईजीकी प्राचीन अप्रकाशित सामग्रीसे प्राप्त किया गया है । श्रीलीलापुरुषोत्तम भगवान्‌के श्रीविग्रह-अङ्गोंका वर्णन यहाँ अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें हुआ है, जो साधकोंके लिये परम लाभकारी है। मनोयोगपूर्वक एकाग्र-चित्त होकर पढ़नेपर पाठकोंको ध्यानमें भगवानकी चिन्मय मूर्तिका सान्निध्य तथा उनके दिव्य श्रीअङ्गोंके दर्शन-सुखकी अनुभूति सहजरूपमें प्राप्त हो सकती है ।—सम्पादक]

वास्तवमें भगवान्‌के रूपका वर्णन हो नहीं सकता । रूपकी स्मृतिमें मन लगाये बिना तो वर्णन सम्भव नहीं है और मन लग जानेपर वाणी रुक जाती है, फिर वर्णन कौन करे। ऐसी दशामें जो कुछ वर्णन किया जाता है, वह केवल बाह्य होता है । फिर भी इसी बहाने भगवच्चर्चा हो जाती है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है । जो तत्त्वज्ञ पुरुष हैं, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌के रूपकी चर्चा बहुत बाह्य मालूम होती है । वे भगवत्तत्त्वको इससे परे मानते हैं । असलमें यह बात नहीं है । भगवान्‌के श्रीअङ्ग तत्त्वको साथ लिये हुए हैं, तत्त्वरहित नहीं हैं। अवश्य ही ये तत्त्व पाञ्चभौतिक नहीं हैं । भगवान्‌के अङ्ग और उनका ज्ञान दो वस्तु नहीं हैं । स्वयं भगवान् ही अङ्ग बने हुए हैं । हाँ, जिन लोगोंके लिये ये बातें बाह्य हैं, उनके लिये बाह्य ही हैं ! केवल भक्तोंको ही, जो भगवान्‌के साकार विग्रहका दर्शन करना चाहते हैं, ये बातें रुचिकर प्रतीत होती हैं । ज्ञानमार्गी समझते हैं कि भगवान्‌के भी हाथ-पैर मनुष्यों-जैसे ही हैं । यदि इन्हींमें मन रहा तो हम तत्त्वसे वञ्चित ही रह जायँगे । ऐसे लोग इस वर्णनको सुननेके अधिकारी भी नहीं हैं— यह बात नहीं है, किंतु उनका अधिकार दूसरी तरहका है । इन लोगोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के साकार विग्रहकी पूजा-अर्चा करनेवाले मन्द अधिकारी हैं । इसलिये ये बातें उन लोगोंके कामकी नहीं हैं, केवल प्रेमियोंके कामकी हैं । ये बातें गोपनीय भी बहुत हैं, सर्वसाधारणके सामने करनेकी नहीं हैं; क्योंकि सर्वसाधारणको इन्हें सुनकर कोई विशेष लाभ नहीं होता, केवल कौतूहल-निवृत्ति होती है; कहना सुननामात्र होता है । ये तो ध्यान करनेकी चीज हैं । भगवान्‌के श्रीअङ्गोंका ध्यान करनेसे उनकी दया होनेपर दर्शन भी हो सकते हैं । भगवान्‌के साकार विग्रहके दर्शन होते हैं, हो सकते हैं—यह बात बिल्कुल सत्य है, कल्पना नहीं । उनका वह विग्रह शुद्ध चिन्मय नित्य एवं दिव्य है। जिन्हें उस विग्रहके दर्शनकी चाह है और जो उससे लाभ समझते हैं, उन्हींके लिये ये बातें रुचिकर हो सकती हैं; जो इससे ऊपर भी कोई तत्त्व समझते हैं, वे इन बातोंके सुननेके अधिकारी नहीं हैं । असूया-दोषसे रहित होनेकी इसमें प्रथम आवश्यकता है । अर्जुनमें असूया-दोष नहीं है । यह विदित होनेपर ही भगवान्‌ने उनको अपना रहस्य समझाया । इसीलिये ये बातें अन्तरङ्गमें ही करनेकी हैं, सबके सामने नहीं ।

भगवान्‌के अङ्गोंमें दो प्रधान हैं—मुखारविन्द और चरणारविन्द; मुखकी अपेक्षा भी भगवान्‌के चरण भक्तोंको अधिक प्रिय हैं; उन्हें देखकर भक्तलोग अघाते ही नहीं । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मुख कम प्रिय है । बात यह है कि मुख चरणोंके पीछे आता है, इसलिये भक्तोंको चरणोंकी चाह अधिक होती है । चरणोंकी महिमा बहुत बड़ी है । उसका वर्णन कौन कर सकता है । जिन चरणोंके धोवनने शिवको शिव बना दिया, जो पवित्रोंको भी पवित्र बनानेवाले हैं, उन चरणोंकी महिमा कौन कह सकता है । तीर्थोंका माहात्म्य इसीलिये है कि उनपर भगवान्‌के चरण टिके थे । भगवान्‌के

श्रीचरणोंसे अङ्कित भूभागको देखकर ही बूढ़े अक्रूर प्रेम-विभोर होकर रथसे उतर पड़े और लगे उन पद-चिह्नोंपर लोटने। उन पद-चिह्नोंपर लोटनेमें उन्हें भगवान्‌के आलिङ्गनका सुख मिला। भगवान्‌के उभरे हुए लाल-लाल पद-नखोंका प्रकाश जिसने एक बार भी देख लिया उसके हृदयका अन्धकार सदाके लिये दूर हो गया। उन नखोंमें लाखों चन्द्रमाओंकी द्युति है। उनका प्रकाश कभी घटता-बढ़ता नहीं; उसमें कहीं नाममात्रको भी कलङ्ककी कालिमा नहीं है। वह सदा एकरस रहता है। चन्द्रमाकी चाँदनी तो कृष्णपक्षमें लुप्त रहती है। और तो और जिस भाग्यवान्‌ने एक बार उन चरणोंका पृथ्वीपर पड़ा हुआ चिह्न भी देख लिया वह मुक्त हो गया।

कई वर्ष पूर्व काशीकी एक बंगाली महिलाको भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका छायाचित्र उसके पास अब भी है। एक दिन होलीकी रातमें उसने यह स्वप्न देखा कि भगवान् मानो उससे कह रहे हैं कि मैं फाग खेलना चाहता हूँ। दूसरे दिन उस महिलाने रातके समय मन्दिरमें अपने उपास्यदेवकी मूर्तिके समीप कुछ अबीर एक पात्रमें रखवा दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब मन्दिरके द्वार खोले गये तो निज मन्दिरमें गुलाल फर्शपर बिखरा हुआ मिला और उसपर छोटे-छोटे चरणचिह्न दिखायी दिये, जिससे यही अनुमान होता था कि रातको वहाँ गुलालसे किसीने फाग खेला है।

भगवान्‌के चरण-तलमें चार प्रधान चिह्न हैं—वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमल। पर भक्तोंने इन चिह्नोंकी संख्या समय-समयपर १०८ तक गिनी है। ये चिह्न हमलोगोंकी भाँति रेखाओंकी आकृतिके नहीं है, अपितु ज्यों-के-त्यों दिखायी देते हैं। उदाहरणतः कमलका चिह्न ठीक खिले हुए कमलके आकारका है, जो वास्तविक कमल-सा ही मालूम होता है। उसमें सोलह दल हैं। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न विग्रहोंके चरणगत कमलोंमें वर्ण और दलोंकी संख्यामें अन्तर है। भगवान् श्रीकृष्णके पाद-तलके कमलमें सोलह दल हैं, उसका रंग ललाई लिये हुए गुलाबी है। ये चारों चिह्न पादतलके बीचके गहरे भागके चारों ओर अवस्थित हैं, इन्हींके बीचमें व्याधने बाण मारा था। एड़ीके ऊपरके भागमें कमल है। उसके ऊपर वज्र है। कमलके पार्श्वमें अंकुश है और ऊपर ध्वजा है। भगवान्‌के सभी चरण-चिह्न सब समय नहीं दिखायी देते। जो-जो दीखते हैं वे भलीभाँति प्रकाशयुक्त दीखते हैं। उनकी शोभाका वर्णन कुछ नहीं किया जा सकता। लाल रंगपर ये भिन्न-भिन्न वर्णके चिह्न अतीव मनोहर मालूम होते हैं। कहीं हरा, कहीं पीला, कहीं सफेद और कहीं श्याम। ये सब-के-सब रंग एक साथ अलग-अलग मिलकर अलौकिक शोभाको धारण करते हैं। कमलका रंग यों तो लाल है, परंतु उसमें सफेदी, पीलापन और नीलिमा भी है। इन सब रंगोंमेंसे अलग-अलग आभा निकलती है और एक-दूसरेपर पड़ती है। चरणतलोंकी एक अद्भुतता और है। वह यह है कि उनमें सारे लोकालोक तथा देवता दिखायी देते हैं। वे एक ऐसे दर्पण हैं, जिनपर सारे विश्वका प्रतिबिम्ब पड़ता है। भगवान् अखिल विश्वको अपने चरणोंमें लिये हुए घूमते हैं। उनके अंदर इच्छा होनेपर शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि सब देवता दिखायी दे सकते हैं। यहाँ किसीके मनमें यह शङ्का हो सकती है कि यह सब गप क्यों मार रहा है। इसका उत्तर यही है कि जबतक यह वस्तु दृष्टिपथमें नहीं होती तबतक हम लोगोंकी दृष्टिमें यह सब गप ही है। अस्तु! ये चारों चिह्न इतने उभरे हुए हैं कि भगवान्‌के चरण जिस भूमिपर पड़ते हैं वहाँकी धूलिमें ये चारों चिह्न अवश्य अङ्कित हो जाते हैं, दूसरे चिह्न नहीं होते।

बंगालमें एक अस्त्र होता है, जिसे दाव कहते हैं। वज्रकी आकृति करीब-करीब दावकी-सी होती है—

यद्यपि दावकी आकृति उतनी सुन्दर नहीं होती । वज्र दावकी अपेक्षा अधिक पतला और चमकदार होता है । शेषनागके फणसे भी उसकी आकृति मिलती है, उसका रंग बिल्कुल सफेद है । बिल्कुल सफेद भी आपेक्षिक दृष्टिसे कहा जाता है; क्योंकि बिल्कुल सफेद तो वास्तवमें अवर्ण होता है, वह दिखायी ही नहीं देता । श्वेत वर्णमें भी कोई-न-कोई वर्ण अवश्य मिला रहता है । शिवजीको शास्त्रोंमें कर्पूर-वर्ण कहा गया है, पर उनके वर्णमें भी कुछ ललाई मिली हुई रहती है । हाँ, अन्यकी अपेक्षा वह सर्वथा श्वेत माना गया है । वज्रके वर्णमें भी कुछ ललाई रहती है । इसीके आकारका आश्रय लेकर इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिये दधीचिकी हड्डियोंसे विश्वकर्माके द्वारा प्राकृतिक वज्र बनवाया था । इससे पहले वज्र नहीं था, सो बात नहीं है । हाँ, इससे पहले वह गुप्त था, प्रकाशमें नहीं आया था । वज्र नाम भी पहलेसे मौजूद था । वृत्रासुर भगवान्का अनन्य भक्त था । वह अपने इष्टदेवके चरणचिह्नको सामने आते देख कृतार्थ हो गया । उसका अस्त्र वहीं शान्त हो गया । विष्णुका मन्त्र कुण्ठित हो गया । अस्तु ! वज्रका वर्ण शिवजीका-सा है । भगवान् शिव ही वज्र बने हुए हैं । जिस प्रकार शिवजीके वर्णमें कुछ-कुछ ललिमा रहती है, उसी प्रकार सूर्यबिम्बके वर्णमें नीलिमा रहती है; क्योंकि वह भगवान् विष्णुका ही अंश है । विष्णुकी बारह आदित्योंमें गणना है । भगवान्के ये सभी चिह्न तेजपुञ्ज हैं । अंकुशका वर्ण श्याम है । उसकी आकृति लौकिक अंकुशकी-सी ही है । ध्वजाका वर्ण पीत है ।

यहाँ यह बात समझ लेनेकी है कि संसारमें जो कुछ है सो भगवान्के परमधामकी नकल है । यह मानना सरासर भूल है कि भक्तोंने यहाँकी वस्तुओंको देखकर वहाँकी वस्तुओंकी कल्पना कर ली है । यद्यपि यहाँकी वस्तुएँ मायिक हैं, किंतु नमूना वहींका है । यहाँकी जो विशिष्ट विभूतियाँ हैं उनमें वहाँके नमूनेकी ही विशेषता है । संसारमें नया आविष्कार कुछ नहीं होता । अप्रकाशित वस्तुओंका ही अंशतः प्रकाश होता है । रेडियो पहले नहीं था, सो नहीं है, पहले वह अप्रकट था, अब प्रकट हो गया । रेडियोसे भी परे न मालूम कितनी शक्तियाँ हैं जो इस समय अप्रकट हैं और रेडियोकी ही भाँति कालान्तरमें प्रकट हो सकती हैं । ओषधियोंमें न मालूम कितनी ओषधियाँ अब भी ऐसी हैं जिनके गुण हमें अभी नहीं मालूम हैं ।

सृष्टिमें नया बीज कोई नहीं बनता, छिपी हुई वस्तु प्रकट होती है । योगी भी बीज नहीं बना सकता । भगवान्के नित्यधामकी ही छाया यहाँ हमें देखनेको मिलती है । आविष्कारकी सारी कल्पनाएँ मूर्तरूपसे वहाँ मौजूद हैं । भगवान्का श्रीविग्रह मनुष्यका-सा होनेपर भी उससे सर्वथा विलक्षण है । प्रकृतिका सारा सौन्दर्य भगवान्के विग्रहकी छायामात्र है । जब छायामें इतना सौन्दर्य है तब कायामें कितना होगा, इसका हम अनुमान नहीं कर सकते ।

भगवान्का नित्यधाम उनके चरणोंमें है । उनके चरण भी नित्य हैं । धाम भी नित्य है और स्वयं भगवान् भी नित्य हैं । धाम उनके चरणोंमें है और वे स्वयं धामके अंदर विराजमान रहते हैं । वास्तवमें उनका धाम और वे एक ही वस्तु हैं, पृथक्-पृथक् नहीं । नित्यधाम यद्यपि एक-एक हैं तथापि विग्रहके अनुसार उनमें परस्पर भेद है । उन भेदोंमें कोई अंशी और कोई अंश हों सो बात नहीं है । श्रीरामके चरणोंमें साकेतके ही दर्शन हो सकते हैं, श्रीकृष्णके चरणतलमें गोलोकके और श्रीविष्णुके चरणतलमें वैकुण्ठके ही दर्शन हो सकते हैं । यही विशेषता है । जिसने भगवान्के चरणोंको पा लिया उसने सब प्रकारके ऐश्वर्य, विभूति, ज्ञान-वैराग्य और मुक्तितकको पा लिया । उनके चरणोंका प्रकाश उनके

अनुगत भक्तोंमें उतर आता है। चरणोंकी आवश्यकता सभी भक्तोंको होती है और उन्हें प्राप्त करनेका अधिकार भी सभी भक्तोंको होता है। चरणोंसे ही अन्य अङ्गोंकी भी प्राप्ति हो सकती है। चरणोंको हृदयपर रखनेका अधिकार केवल भगवान्‌की प्रेयसियोंको ही प्राप्त है।

चरणोंकी महिमा कहाँतक कहें, उनका जिन रजःकणोंसे स्पर्श हो जाता है, वे रजःकण दिव्य हो जाते हैं। उन रजःकणोंके स्पर्शसे सारी जड़ता नष्ट हो जाती है—सारी अविद्या, अज्ञान, तप, मोक्षका नाश हो जाता है। उस रजकी तो बात ही क्या है, उस रजके कारण महत्त्वको प्राप्त हुए भक्तोंकी चरण-रजके लिये भी देवता-लोग तरसते रहते हैं। श्रीगोपिकाओंकी चरणरजकी कामना ब्रह्मादि देवताओंने की है। देवता पशु-पक्षी बनकर भगवान्‌की चरणरजमें लोटते हैं। वहाँ प्रकटमें आनेका उनको अधिकार न होनेके कारण वे छिपकर आते हैं और उस धूलिके एक-एक कणके लिये लालायित होते हैं। ज्ञानाभिमानियोंको वह धूलि नहीं मिलती। श्रीमद्भागवतमें इन्हें तुषावघाती अर्थात् भूसी कूटनेवाला कहा है। जिनके अंदर भगवत्प्रेम खिलनेवाला होता है, जिनका उन चरणोंमें विश्वास है, उन भाग्यवानोंको भगवान्‌के किसी अनुगत भक्तकी चरणरज प्राप्त होती है। उस चरणरजकी कहाँतक महिमा कहें। उन कणोंको भगवान्‌के चरणचिह्नोंका स्पर्श मिल जानेसे उनमें आसुरभावोंको मारनेकी शक्ति आ जाती है। अंकुशमें मदोन्मत्त हाथीको वशमें करनेकी शक्ति होती है। अतः उस रजःकणको मस्तकपर छिड़कनेसे मनरूप मस्त हाथी वशमें हो जाता है। कमलके स्पर्शमें आये हुए रजःकणसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि कमल ज्ञानका ही स्वरूप है। वज्रके स्पर्शसे आये हुए रजःकणसे पापोंका नाश होता है। ध्वजा विजयकी सूचक है। अतः उसके स्पर्शमें आये हुए रजःकणसे परमसिद्धिरूप विजय प्राप्त होती है। उसके अंदर पाप, विषयोंकी आसक्ति और अज्ञान नहीं रहता। ये धूलिकण बाह्यरूपमें भी जड़ नहीं रह जाते, कठोर नहीं होते, अपितु ज्योतिर्मय हो जाते हैं। उनका स्पर्श परम शीतल और सुखद होता है। उन्हें छूनेसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी चेतन पदार्थसे स्पर्श हुआ हो। भरतको भगवान् श्रीरामकी चरणरजके स्पर्शसे स्वयं भगवान्‌के आलिङ्गनका बोध हुआ। भगवान् जब पृथ्वीतलपर साक्षात् अवतीर्ण होते हैं, तब उनके साथ ही उनका नित्यधाम भी पृथ्वीतलपर उतर आता है और उनके साथ वापस भी चला जाता है। आजकलकी अयोध्या और आजकलका वृन्दावन वह अयोध्या और वह वृन्दावन नहीं हैं, जो उस समय थे। ये तो उनकी नकलमात्र हैं और पीछेसे साधनाके लिये कल्पित किये गये हैं। अयोध्याको तो भगवान् अपने साथ ही ले गये, ऐसा वर्णन मिलता है। हाँ, उनके साथ इनका स्पर्श होनेके कारण तथा नाम एक होनेके कारण ये भी अति पवित्र हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। भगवान्‌की चरणरजका जिनको स्पर्श हो जाता है, वे धन्य हो जाते हैं, महात्मा बन जाते हैं। जिनको ऐसे महात्माओंकी भी चरणधूलि मिल जाती है, वे भी धन्य हो जाते हैं। भागवतमें लिखा है—**'विना महत्पादरजोऽभिषेकम्'** ऐसे महात्माओंकी चरणधूलिको मस्तकपर छिड़के बिना कल्याण नहीं होता। इससे वास्तवमें भगवान्‌की ही महिमा सूचित होती है। भगवान्‌का नाम भगवान्‌से बड़ा इसीलिये है कि वह भगवान्‌का ही नाम है। **'राम न सकहिं नाम गुन गाई।'** इससे वास्तवमें रामकी ही महिमा द्योतित होती है। जिस राजाके पास इतनी सम्पत्ति हो कि उसका स्वयं राजाको भी पता न हो तो वह राजा कितना बड़ा होगा। इसी प्रकार जिस रामके नाममें इतनी अपार सामर्थ्य है कि स्वयं राम भी उसका

वर्णन नहीं कर सकते। उन रामकी महिमाका क्या ठिकाना है। रामके दासको इसीलिये रामसे बड़ा कहा गया है कि वह रामका दास है। भगवान् अपने अनुगत भक्तके सम्बन्धमें कहते हैं—**अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः**'—'मैं अपने उन भक्तोंके पीछे-पीछे नित्य—एक-आध रोज नहीं—इसलिये घूमता हूँ कि उनकी चरणरजसे मैं पवित्र हो जाऊँ।' जिन भगवान्की चरणधूलिको प्राप्त किये हुए भक्तोंकी यह महिमा है, उन भगवान्की चरणधूलिकी कितनी महिमा है—इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। भगवान्ने भक्त सुदामाके चरणोंको धोकर उनके चरणोदकको स्वयं ही नहीं लिया, अपितु अपनी सारी पटरानियोंको पिलाया और फिर उसे महलभरमें ऊपर-नीचे सब जगह छिड़कवाया। जिन विष्णुके पादोदकके पान करनेसे मनुष्य पुनर्जन्मसे छूट जाता है, उन विष्णुने स्वयं अपने भक्तके चरणोदकका माहात्म्य बतलानेके लिये ही पान किया। उन्हीं भगवान्के चरणोदकका पान करके केवट स्वयं अपने परिवारसहित तर जाय, इसमें तो आश्चर्य ही क्या, उसने अपने पूर्वजोंतकको अपार भवसागरसे पार कर दिया।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

इस संसारमें जो भी वस्तुएँ हैं, वे सब समय आनेपर अवश्य नष्ट होती हैं। जो भी दृश्य पदार्थ हैं, जिनकी उत्पत्ति हुई है, उनका नाश निश्चित है। इस पृथ्वीपर कितने ही सम्राट्, विद्वान्, आचार्य, शूरवीर और सामान्य मनुष्य भी आये, उन्होंने जन्म लिया, जिये और नष्ट हुए। जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें पृथ्वीमेंसे अनेक वनस्पतियाँ अङ्कुरित होती हैं, विकसित होती हैं और समय आनेपर उसी पृथ्वीरूपी खड्डेमें समा जाती हैं, जिस प्रकार समुद्रमें अनेक लहरें उठती हैं और फिर उसीमें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डमें अनेक प्राणी-पदार्थ उत्पन्न होते हैं, मरते हैं और नष्ट होते हैं। अनेक बड़े-बड़े महात्मा अब कहानी बन चुके हैं। समस्त ब्रह्माण्डमें कोई अजर-अमर है, ऐसा आजतक न तो सुना है, न जाना है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—इन त्रिदेवोंके शरीर भी समय आनेपर नष्ट हो जाते हैं तो फिर दूसरोंकी क्या बिसात? इस समय हम जिस शरीरको अपना शरीर मानते हैं, वह शायद कल ही नष्ट हो जाय। प्रत्येक वस्तु समय आनेपर अवश्य नष्ट हो जाती है। इस संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो अमर हो। आकाशकी ओर दृष्टि उठाकर देखिये तो वहाँ जो भी ग्रह-नक्षत्र दीखते हैं, उनमेंसे एक भी स्थिर नहीं है। तथाकथित स्थिर ध्रुव भी गतिशील, अस्थिर है। कोई भी लोक अविचल एवं अविनाशी नहीं है। मुमुक्षु ऐसा न मान लें कि अमुक लोक अविनाशी है और वहाँ अवतरित होनेपर फिरसे जन्म नहीं लेना पड़ेगा, मरना भी नहीं पड़ेगा। जो नाम-रूप हैं, वे तो सब मरनेहीवाले हैं। जो शरीर जन्मे हैं, वे मरनेवाले हैं। जो आकारवाले हैं, वे सब नष्ट होनेवाले हैं। कोई ऐसी जमीन नहीं है, कोई ऐसा देश नहीं है, जो अमर हो। जो अविनाशी है, वह परमात्मा है। जो अमर है, वह आत्मा है और वह समस्त प्राणियोंमें व्याप्त है। प्राणी-पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी जिसका नाश नहीं होता, वही परमपद, वही परमधाम और वही परमात्मा है। देश, भूमि, लोक आदि एक जगह हैं, परंतु दूसरी जगह नहीं हैं। इसलिये ये परिच्छिन्न और विनाशी हैं। ये अक्षरधाम नहीं हैं। स्वर्ग,

वैकुण्ठ, सत्यलोक और अन्य जो भी लोक माने जाते हैं, वे सब समय आनेपर काल-कवलित अवश्य हो जायँगे। बराबर विचार करनेसे समझमें आ जायगा कि इस संसारमें सारी क्रियाएँ एक पदार्थको नष्ट कर दूसरेको उत्पन्न करनेमें समायी हुई हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो (जरा प्रौढ़ दृष्टि कर गौर करनेसे मालूम हो जायगा कि) संसार मानो चित्रपट (सिनेमा) का पर्दा है, जिसमें पदार्थ-मात्र क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं। फिर भी थोड़े समयके लिये वे वैसे ही दीख पड़ते हैं, अपरिवर्तनशील भासित होते हैं। परब्रह्मरूपी पर्देपर बिना फिल्मके इस संसार-रूपी सिनेमाका दृश्य प्रतिक्षण बदलता रहता है, नृत्य करता रहता है। फिर भी वह वैसा ही है, अपरिवर्तन-शील है, ऐसा भासित होता है। इस संसारमें सब-के-सब आकार नाशवान् हैं और मिथ्या हैं। उत्पत्तिके पूर्व उनका आकार वैसा नहीं था, इस समय भी विकार-के कारण वे हर क्षण परिवर्तित हो रहे हैं और अन्तमें वे नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार हर क्षण संसारके सारे पदार्थ विकारवश विनाश प्राप्त करते ही हैं। हर क्षण काल-देवता संसारके प्राणियों और पदार्थोंको निगल रहे हैं। वस्तुके निर्माण होते ही उसका विनाश भी आरम्भ हो जाता है। जिस प्रकार दीपककी ज्योति हर क्षण तेलका नाश करती रहती है, जिस प्रकार नदीका बहता पानी प्रत्येक क्षण नये-नये स्थानपर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार संसारमें समस्त प्राणी एवं पदार्थ प्रत्येक क्षण विकार एवं विनाश प्राप्त कर रहे हैं। इसलिये अनुभवी संत चेतावनी देते हैं कि इस नाशवान् प्राणि-पदार्थमें ममता क्यों रखी जाय? अहंता क्यों रखी जाय? क्योंकि जीवन थोड़ा है, सामर्थ्य भी थोड़ी है और कालका कोई भरोसा नहीं है। यकायक न जाने कब प्रयाण करनेका समय आ जाय। इस खान-पानमें, इस पहनने-ओढ़नेमें और इन भोगोंमें नित्य वही-का-वही एक नीरस व्यावहारिक जीवन है। तो भला इस एकरसतासे जी नहीं ऊब जाता! यहाँ खाने-पीने और मौज मनानेमें जिन्दगी गँवा दी। शरीर छोड़कर परलोक जाते समय इन आनन्द, मौज आदिका कौन-सा फल मिलेगा? घानीका बैल चलता तो बहुत है, पर रहता वहींका वहीं है। मौत आयेगी, इन सबको छोड़कर जानेकी बेला आयेगी, तब क्या याद आयेगा? हमारेद्वारा किये गये पाप ही आँखोंके सामने तैरते रहेंगे। रिस्तेदारोंको, कुटुम्बी जनोंको, अपनोंको, परायोंको, जिन-जिनको हमने सताया होगा वह सब याद आयेगा। उस समय अनुभव होगा कि मैंने ये पाप क्यों किये? स्वजनों और परजनोंको नाहक क्यों पीड़ित किया? पर उस समय पछतानेसे क्या मिलेगा? मरनेके बाद भगवान् जीवनका लेखा-जोखा माँगेंगे, क्या किया? धंधा किया, पाप किया, खाया-पीया, कुटुम्बका पालन किया, परंतु इन सबकी गणना नहीं होगी। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अभीसे चेत जाय। बहुत-से जन्म बीत गये, बहुत-से साल गुजर गये, परंतु ईश्वरकी ओर जानेवाला रास्ता आपने कितना तय किया? सब कुछ आपको यहीं छोड़ना होगा। फिर कौन-सा सम्बल आपने मार्गके लिये तैयार किया? मुसाफिरी लंबी है। भूखसे मरना न पड़े, इसलिये अभीसे तैयारी आरम्भ कर दें। साधकका कर्तव्य है कि सारी आयु नाहक गँवा देनेके बजाय, देहके अवसानके पूर्व श्रेय-साधना अवश्य कर ले। मृत्यु किसी भी उपायसे टाली नहीं जा सकती। कालका बुलावा लौटाया नहीं जा सकता। इन सबको छोड़कर हमें जाना ही पड़ेगा। इससे मुक्ति-प्राप्तिके लिये उपाय करने ही होंगे। जन्म-मृत्युकी रहटसे हमें मुक्त होना ही चाहिये। इस प्रकार जीवनमें सत्कर्म करते रहें तो जीवात्माका कल्याण होता है। यदि मनुष्य यह मान ले कि बुढ़ापेमें भगवान्‌का भजन करेंगे, पर बुढ़ापेमें

कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिये मुमुक्षुका कर्तव्य है कि आज अभीसे ही जितना जो कुछ हो सके करने लगे। आयु बढ़नेके साथ-साथ शरीरकी, मनकी, इन्द्रियोंकी शक्ति घटती है, जठराग्नि मंद हो जाती है, कानसे कम सुनायी देता है, अधिक उठ-बैठ, दौड़-धूप नहीं हो पाती, शरीर अनेक रोगोंका घर बन जाता है। इसलिये आजसे ही भगवान्‌का निरन्तर भजन करो; क्योंकि अभी तो शरीरमें, इन्द्रियों और मनमें अपार शक्ति और उत्साह है। व्रत-नियम करनेका, परोपकार और लोकसेवा करनेका, तीर्थयात्रा करनेका, मन और इन्द्रियोंका संयम साधनेका, भगवान्‌की भक्ति, सत्सङ्ग और सद्‌गुणोंको धारण कर दृढ़ करनेका, सत्कार्य करनेका, परलोकके लिये संबल तैयार करनेका समय है, शक्ति है। जब आँखें अंधी हो जायँगी, कान बहरे हो जायँगे, कोई घरमें आदर नहीं देगा, कोई तुम्हारी बात नहीं मानेगा, भूख तो बहुत लगेगी पर भोजन नहीं मिलेगा, कोई तुम्हारे साथ बातें करनेके लिये भी तैयार नहीं होगा, कोई तुम्हारे पासतक नहीं बैठेगा, तब तुम विवश होगे, तब तुमसे कुछ भी नहीं हो सकेगा। दूसरे लोग उस समय तुम्हें चिढ़ायेंगे, तुम्हारा मजाक उड़ायेंगे, नाराज होंगे, तब तुम कुछ भी नहीं कर पाओगे। कुटुम्बीजन तुम्हारा तिरस्कार करेंगे। तुम्हारे पास धन नहीं होगा, तुमसे दान-पुण्य भी नहीं होगा। तप-तीर्थ आदि भी नहीं होगा। उस समय (बुढ़ापेमें) पेशाब-दस्तका ठिकाना नहीं होगा, शरीरका भान भी न होगा, कपड़े अस्त-व्यस्त होंगे, अंदर-ही-अंदर घुटन होगी, प्रलाप प्रारम्भ होगा, अंट-संट बोलने लगोगे, कुछ भी पहचान नहीं पाओगे, कफसे कंठ अवरुद्ध हो जायगा, तब ईश्वरका भजन कैसे हो सकेगा? प्रयाणका समय यकायक आ सकता है।

ऐसी स्थितिमें साधकको, मुमुक्षुको अपना मार्ग निर्धारणकर चुपचाप उसपर चलते रहना आवश्यक है। ऐसा न कर वाद-विवाद और धर्मके झगड़ोंमें यदि मुमुक्षु फँसा रहा तो उसका रास्ता कैसे तय होगा और वह मंजिलतक कैसे पहुँच सकता है? शरीर सशक्त हो, तबतक उस मार्गको ग्रहण कर लेना चाहिये, जिसमें चित्तको शान्ति मिले, असीम आनन्द मिले, तीनों कालोंमें सुख मिले। जहाँ खड़े हो वहाँसे आगे बढ़ो, रास्ता तय करो, लक्ष्यपर दृष्टि रखो, धीरे-धीरे श्रेय प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि भोगमात्रकी आकाङ्क्षाका त्याग करते हुए स्वकर्म करना चाहिये और उन कर्मोंके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। परमात्माका आश्रय लेकर प्राणिमात्र प्रभु-स्वरूप हैं, ऐसा मानकर शुद्ध चित्तसे अखण्ड आनन्दका अनुभव करते रहना बहुत आवश्यक है। तभी जीवन उत्तम ढंगसे जिया जा सकता है और मृत्यु भी सुधर जाती है। इस जन्ममें यदि तुमने परम-पदको प्राप्त करनेके लिये अथक प्रयत्न नहीं किया तो इतना जान लो कि तुम्हारे प्रयत्नोंके बिना लाखों जन्म लेनेपर भी तुम्हारा छुटकारा नहीं है।

इसलिये जबतक तुम्हारा शरीर सशक्त है, तबतक कमर कसकर भगवान्‌की आराधना करते चलो, अच्छे कार्य करते रहो, सदाचार, परोपकार, भक्ति, ध्यान आदि संबल तैयार कर लो और जानेसे पहले ही (मृत्युके पूर्व ही) भगवान्‌को अपना बनाकर, भगवान्‌की अनन्य शरणागति प्राप्त कर लो। ऐसा करनेपर चौदह लोकोंके नाथ भगवान् सामने उपस्थित होंगे और तुम्हें अपना समझकर तुम्हारी बाँह पकड़कर अपने धाममें ले जायँगे। इसलिये शुभ कार्यके लिये राह न देखो, प्रतीक्षा न करो।

(अनुवादक—प्राध्यापक भूदेवप्रसाद हरिलाल पंड्या)

साधकोंके प्रति—

(संसारके वियोगमें सुख-शान्ति)

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

हम यह जानते हैं कि संसारसे हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं रहता। इस वास्तविकताका हम सबको अनुभव है; परंतु हम इस जानकारीपर कायम नहीं रहते। हम संसारसे अपना सम्बन्ध मानते हैं—यही हमारी भूल होती है। यदि हम इस जानकारीपर कायम रह जायँ अर्थात् हम संसारसे सम्बन्ध न जोड़ें तो आज, अभी बेड़ा पार है।

हम संसारके संयोग बिना रह सकते हैं, पर वियोग बिना नहीं रह सकते, जी नहीं सकते अर्थात् संसारकी वस्तुओं, व्यक्तियों और पदार्थोंसे सम्बन्ध रखकर हमें उतना सुख नहीं मिलता, जितना सुख उनके वियोगसे मिलता है। इसपर पूछा जा सकता है कि यह बात कैसे है? जैसे, हमें गाढ़ नींद आती है। उस गाढ़ नींदमें किसी व्यक्ति या वस्तुसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, सम्पूर्ण वस्तुओं तथा व्यक्तियोंको हम भूल जाते हैं। इनके भूलनेमें जितनी सुख-शान्ति है, इन वस्तुओंको याद रखनेमें उतनी सुख-शान्ति नहीं है।

नींद लेनेकी हमारी प्रवृत्ति जन्मसे ही है। हम जब नींद लेते हैं, तब संसारको भूलते ही हैं। संसारसे विमुख हुए बिना हम आठ पहर भी सुखपूर्वक जी नहीं सकते। यदि कई दिनतक नींद न आवे तो मनुष्य पागल हो जाय। जितनी खुराक हमें नींदसे मिलती है, उतनी खुराक पदार्थों-व्यक्तियोंके सम्बन्धसे नहीं मिलती, प्रत्युत व्यक्तियों और पदार्थोंका सम्बन्ध रखनेसे तो थकावट होती है। वह थकावट नींदसे दूर होती है। नींदसे शरीरमें, इन्द्रियोंमें, अन्तःकरणमें नयी शक्ति, ताजगी और स्फूर्ति आती है और पदार्थों एवं व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध माननेसे ताजगी-शक्तिका ह्रास होता है।

नींद तो हम बचपनसे ही लेते आये हैं, पर पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध निरन्तर नहीं रहा है। बचपनमें खिलौने जितने अच्छे लगते थे, उतने और पदार्थ तथा व्यक्ति अच्छे नहीं लगते। घर उतना अच्छा नहीं लगता था, जितना खेल अच्छा लगता था। इसके बाद अब जवानीमें रुपये-पैसे अच्छे लगने लग गये तो खिलौने अच्छे नहीं लगते, पर नींद अब भी वैसी-की-वैसी अच्छी लगती है। खिलौने प्यारे लगते थे, तब भी नींद अच्छी लगती थी और नींदसे सुख मिलता था। अब रुपये अच्छे लगने लगे तो भी नींद अच्छी लगती है; परंतु रुपयोंको भुला करके जो नींद आती है, वह नींद और भी अच्छी लगती है।

अब विवाह हुआ तो स्त्री, पुत्र और परिवार बड़ा अच्छा लगने लगा। उस परिवारके लिये रुपये भी खर्च कर देते हैं; परंतु गहरी नींदके लिये स्त्रीको, पुत्रको, मित्रोंको, कुटुम्बियोंको भी छोड़ देते हैं। जिनके मोहमें फँसकर मनुष्य झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी, ठगी, धोखेबाजी आदि करते हैं, गाढ़ नींदके लिये उन सबका त्याग कर देते हैं। जब वृद्धावस्था आती है, तब मनुष्योंका परिवारमें स्वतः बहुत मोह बढ़ जाता है; परंतु गाढ़ नींदके लिये तो इन्हें भी छोड़कर जब धन, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार आदिको छोड़कर साधु हो जाते हैं, विरक्त-त्यागी बन जाते हैं, तब भी नींद लेते हैं। जब नींद आती है, तब साधुपनसे भी वियोग होता है, तब भी नींदमें वैराग्य-त्यागसे भी वियोग होता है; तात्पर्य यह है कि मनुष्योंको प्रत्येक परिस्थितिमें नींद

प्रिय लगती है । जब नींद नहीं आती, तब नींद आ जाय तो अच्छा है—यही भाव रहता है । नींद आनेके लिये मनुष्य पूरी तैयारी करते हैं । अच्छा बिछौना बिछाते हैं, आरामके लिये खूब बढ़िया तकिया लगाते हैं, तरह-तरहके गद्दे लगाते हैं, बढ़िया पंखे भी रखते हैं । हल्ला-गुल्ला न हो, ऐसी व्यवस्था करते हैं, जिससे कि आरामसे नींद आ जाय ।

मनुष्य तरह-तरहके भोग भोगते हैं, कितने ही मनोहर दृश्य देखते हैं, सिनेमा आदि भी देखते हैं, पर जब नींद आने लगती है, तब वे नहीं सुहाते । तब वह यही कहते हैं कि अब तो हमें नींद लेने दो । अब हम नींद लेंगे । इससे सिद्ध हुआ कि नींद सभी वस्तुओं, दृश्यों, व्यक्तियोंसे बढ़कर प्यारी है । नींदके लिये सब कुछ त्यागा जा सकता है, पर नींदका त्याग नहीं किया जा सकता; परंतु यदि कहीं भगवत्प्रेम हो जाय, भजनमें रस आने लग जाय तो उस समय फिर नींद भी अच्छी नहीं लगती । एक संतका पद है—**'बैरिन हो गई निन्दरिया'**—यह नींद हमारी बैरिन हो गयी । उस समय तो वे यही चाहते हैं कि नींद न आवे तो अच्छा है । इससे सिद्ध होता है कि जिसके लिये प्यारी-से-प्यारी नींदका भी त्याग किया जा सकता है, वह परमात्मा ही हमें सबसे अधिक प्रिय लगने चाहिये; क्योंकि उस परमात्माके साथ हमारा सच्चा, नित्य और वास्तविक सम्बन्ध है, किंतु संसारसे हमारा बनावटी सम्बन्ध है, जो कि हमारा माना हुआ है; अतः इससे वियोग होगा ही । इससे वियोग हुए बिना शान्ति और सुख मिल नहीं सकते ।

हमारा यह अनुभव है कि संसारके वियोगसे सुख होता है । सांसारिक संयोगके बिना हम रह सकते हैं; परंतु वियोगके बिना नहीं रह सकते । संसारके वियोगका अनुभव तो जीवमात्रको है । जीवमात्र नींद लेता है, पशु-पक्षी सभी नींद लेते हैं । तात्पर्य यह है कि संसारसे वियोग हर एक प्राणी चाहता है । संसारके संयोगमें तो कमीसे भी काम चल सकता है; जैसे—किसीको घीसे चुपड़ी हुई रोटी मिलती है और किसीको रूखी मिलती है, किसीको बढ़िया मकान मिलता है और किसीको झोपड़ी तक नहीं मिलती । दो मनुष्योंकी सुख-सामग्री भी एक समान नहीं होती, परंतु नींदमें सब समान हैं, अर्थात् संसारके वियोगमें सब बराबर हैं । वस्तुओंके बिना हम जितने सुखी होते हैं, उतने सुखी वस्तुओंके संगसे नहीं होते । वियोगका यह सुख सबको समानरूपसे प्राप्त है । यह वियोग स्वाभाविक है; क्योंकि नींदकी ओर सबकी प्रवृत्ति स्वतः होती है—यह सबके अनुभवकी बात है । इससे सिद्ध होता है कि पदार्थोंसे संयोग हम जोड़ते हैं और इनसे वियोग स्वतः सिद्ध है ।

नींदमें सबसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, परंतु संसारके साथ प्राणियोंका जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसे पकड़े हुए ही प्राणी नींद लेते हैं । इसी कारण वे जाग कर फिर उसी संसारके सम्बन्धमें लग जाते हैं । अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटनाएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदल जाते हैं, देश, काल सब बदल जाते हैं—ये तो सब बदलते रहते हैं, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला अर्थात् इनसे अलग अपना होनापन—स्वयंकी सत्ता कभी नहीं बदलती । वह एक ही रहती है; क्योंकि वह हमारा निजी स्वरूप है । संसारके साथ सम्बन्ध अवास्तविक अर्थात् माना हुआ है, जब कि संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद वास्तविक है अर्थात् माना हुआ नहीं है ।

संसार-शरीरसे हमारा सम्बन्ध-विच्छेद प्रतिक्षण हो ही रहा है; जैसे—बालकपनसे सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, जवानीसे हुआ, नीरोगतासे हुआ, रोगीपनसे हुआ,

धनवत्तासे हुआ, निर्धनतासे हुआ और कई व्यक्तियोंसे संयोग होकर वियोग हुआ। इस प्रकार संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद अवश्यम्भावी, है; क्योंकि संयोग केवल माना हुआ है। हमसे बड़ी भारी भूल यह होती है कि माने हुए संयोगको तो सच्चा मान लेते हैं और वियोग जो स्वतः हो रहा है, उधर ध्यान ही नहीं देते। वियोगमें जितना सुख है, जितनी शान्ति है, उतनी संयोगमें है ही नहीं। यदि पदार्थोंके संयोगमें सुख-शान्ति-रस आता तो नींद छूट जाती; जैसे कि भजनमें जब रस आने लगता है तो नींद, भूख और प्यास सब छूट जाती है; इनकी परवाह नहीं होती।

दरियावजी महाराजकी वाणीमें आता है कि भगवान्‌के प्रेममें नींद, भूख और प्यास आदि शरीरके निर्वाहकी जो मुख्य चीजें हैं, इन्हें भी हम भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि असली सम्बन्धकी जागृति होनेपर उसे छोड़कर नकली सम्बन्धको कौन रखेगा? नकली सम्बन्धको कौन रखना चाहेगा? संसारका सम्बन्ध, शरीरका सम्बन्ध हमारा स्वयंका नहीं है, वह माना हुआ है। इसको हम आज छोड़ दें तो आज ही निहाल हो जायँ। सम्बन्ध छोड़नेका अभिप्राय यह नहीं है कि हमें कहीं जंगलमें जाना है या साधु बनना है। हमें कहीं जाना नहीं है। बस, हमारे भीतर यह भाव आ जाय कि यह संसार हमारा नहीं है, हमारे तो केवल भगवान् हैं। वस्तुओंसे जो सम्बन्ध है, वह तो केवल उनका सदुपयोग करनेके लिये है। व्यक्तियोंसे जो सम्बन्ध है, वह उनकी सेवा करनेके लिये है; परंतु व्यक्ति और वस्तुएँ हमारे लिये नहीं हैं। न तो हमारे लिये कोई व्यक्ति है और न हमारे लिये कोई वस्तु है। हमारे कहलानेवाले जो भाई, भौजाई, स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि हैं, इन सबकी वस्तुओंद्वारा सेवा करनी है; क्योंकि शरीर इनका ही है, इनसे ही मिला है, इनसे ही पुष्ट हुआ है। इसलिये शरीरको इनकी सेवामें लगा दो।

हमें इनसे कुछ लेना नहीं है, हमारा कुछ नहीं है। बस, इनकी वस्तुएँ इनकी सेवामें लग जायँ। हमें तो केवल इनका सदुपयोग करनेका अधिकार मिला है, इसलिये अपने अधिकारका सदुपयोग करना है—इसीका नाम है कर्मयोग। भगवान्‌ने कर्मयोगका विवेचन करते हुए गीताजीमें कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(२। ४७)

कर्तव्य-कर्ममें तेरा अधिकार है, फलमें कभी नहीं। और यह भी कहा कि अकर्ममें भी तेरी आसक्ति न हो अर्थात् कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। अतः इनकी और संसारकी सेवा कर दो। सेवाके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। अपनेको कुछ चाहिये ही नहीं। इस कारण फलका हेतु भी नहीं बनना है।

खूब तत्परतासे, सुचारुरूपसे, पूरी योग्यता लगा कर कर्म करना है। क्यों करना है? क्योंकि मनुष्य-शरीर मिला ही है, सेवा करनेके लिये; भोगके लिये नहीं। भोग तो अन्य योनियोंमें भी मिलते हैं। सेवा करके भगवत्प्राप्ति करनेमें ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। 'मानव' नाम मनुष्यकी आकृतिका नहीं है, किंतु इसमें जो विवेक-शक्ति है, वही 'मानव' है। यह विवेक हमें संसारके साथ अपने माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये मिला है, संसारमें लिप्त रहने, चिपकनेके लिये नहीं। सेवा सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें सहायक है। इसलिये कर्मयोगकी प्रणालीसे ही सभी कर्म करने चाहिये।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध केवल सेवा करनेके लिये ही है, संसारसे हमें और क्या मतलब? माता-पिताकी सेवा करनी है; स्त्री-पुत्रका पालन-पोषण करना

है, सबकी सेवा करनी है। इनसे सम्बन्ध मानकर सुख लेनेसे हमें उतनी वास्तविक शान्ति नहीं मिलती, जितनी इनकी सेवा करके सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे मिलती है। इनकी सेवा करके इनसे अलग होनेमें जितना सुख मिलता है, उतना सुख कभी भी इनके संयोगमें नहीं मिलता। संसारके साथ किसी सम्बन्धमें ऐसी प्रियता नहीं है, जिसके लिये मनुष्य नींद, भूख और प्यास छोड़ दे, पर प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़नेपर नींद अच्छी नहीं लगती, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता।

नारदजीकी माँ मर गयी। वे जंगलमें चले गये, पर भगवत्प्रेमकी लगनमें उन्हें यह ध्यान ही नहीं आया कि मैं जंगलमें क्या खाऊँगा ? क्या पीऊँगा ? कहाँ रहूँगा ? उनकी तो केवल एक ही लगन थी —भगवान्‌की ओर चलनेकी। वे वहाँ एक वृक्षके नीचे बैठे, उनका मन भगवान्‌में लग गया। समाधि लग गयी। कुछ देर बाद समाधि खुल गयी तो व्याकुल हो गये। वे बहुत अधिक व्याकुल हुए तो आकाशवाणी हुई कि **'दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्'** यानी कुयोगियोंको मैं दर्शन नहीं देता। इस शरीरके बाद जब तुम्हारा ब्रह्माजीसे पुत्ररूपमें जन्म होगा, उस समय मेरी प्राप्ति होगी। आकाशवाणीसे उनको निराशा नहीं हुई, प्रत्युत चटपटी बढ़ी। अब नारदजी चाहते हैं कि मैं कब मरूँ, कब शरीर छूटे ! दुनिया तो शरीर चाहती है कि हम जीते रहें और वे चाहते हैं कि यह शरीर कब छूटे।

संसारमें अपने शरीरके जीनेकी जितनी इच्छा होती है, उतनी कुटुम्बके जीनेकी इच्छा नहीं होती। गाय नवजात बछड़ेपर बहुत स्नेह रखती है। बछड़ेको छोड़कर जंगलमें चरने भी नहीं जाती; परंतु जब हम उसे मारने-कूटने लगते हैं, तब वह जंगलमें चली जाती है। जंगलमें जाकर घास चरती है, पर घास चरते-चरते जब बछड़ा याद आ जाता है तो 'हुम'—ऐसे हुंकार करती है और मुँहसे घास गिर जाती है। बछड़ेके साथ घाससे ज्यादा प्रेम है। प्रेम घासके साथ भी है ही; क्योंकि घास भी खा रही है। सायंकालमें जब वह वापस लौटती है, तब सब गायोंसे अगाड़ी भागती है। पहले भाग कर हुंकार करती हुई बछड़ेके पास जाती है, बछड़ेको प्यार करती है, उसे दूध पिलाती है। उसका बछड़ेपर प्रेम है और घासपर भी है, पर अपने शरीरपर सबसे अधिक प्रेम है; क्योंकि उसपर लाठी पड़ती है तो वह बछड़ेको छोड़ देती है, घासको छोड़ देती है अर्थात् उसके शरीरपर जब नौबत आती है तो वह बछड़े और घासकी भी परवाह नहीं करती। तात्पर्य यह है कि शरीरमें उसका एक नम्बरका प्रेम है, बछड़ेमें दो नम्बरका प्रेम है तथा घासमें तीन नम्बरका प्रेम है। पशुका शरीरमें जिस तरह मोह होता है, उसी तरह मनुष्यका भी शरीरमें अत्यधिक मोह होता है; परंतु मनुष्योंमें विवेक है, इस वास्ते वह शरीरसे मोह हटाकर भगवान्‌में प्रेम कर सकता है; क्योंकि वह जानता है कि यह शरीर तो हरदम रहेगा नहीं, शरीर हरदम बदलनेवाला है, बदल रहा है और परमात्मा हरदम रहते हैं। 'हम उसीके अंश हैं', 'हम उसीके हैं'—हमें जब यह पहचान हो जाती है तब शरीरकी आसक्ति और मोह छोड़ कर हम परमात्मामें ही लग जाते हैं। जैसे, नारदजी पूर्वजन्ममें भगवान्‌में लगे थे। परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है और संसारके साथ हमारा सम्बन्ध अपना माना हुआ (नकली) है। इस वास्तविकताको हम जानते हैं। यदि इसपर दृढ़ रहें तो हमारा बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाय।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

अभय वाणी

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

मा भैः

अरे तापित, तृषित, क्षुभित, श्रान्त, क्लान्त, आत्म-विस्मृत संतान ! संसार-स्वप्न देखकर और हाहाकार न कर । संसार केवल स्वप्न है । सत्य केवल—एकमात्र मैं हूँ । मेरा नाम ले । नामानन्द-सागरमें डूबकर तू भी नाममय हो जा ।

अरे ! मेरे सिवा जगत्‌में कुछ है ही नहीं । पूर्णमें पूर्णका प्रकाश, शान्तमें शान्तका अवस्थान, आकाशमें आकाशका उदय—मुझमें मैं ही हूँ ।

नाम लेते-लेते आँखोंके जलसे आँखें धो डाल और एक बार देख, जगत् आनन्दमय हो उठा है ।

ब्रह्माण्डानि विनश्यन्ति देवा इन्द्रादयस्तथा ।
कल्याणभक्तियुक्तश्च मद्भक्तो न प्रणश्यति ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'समस्त ब्रह्माण्ड तथा इन्द्रादि देवगण विनष्ट हो जाते हैं, किंतु कल्याण-भक्ति-युक्त मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

सत्त्वशुद्धिकरं नाम नाम ज्ञानप्रदं स्मृतम् ।
मुमुक्षूणां मुक्तिप्रदं कामिनां सर्वकामदम् ॥

(सात्वत-तन्त्र)

'नाम अन्तःकरणकी शुद्धि करता है, नाम ज्ञान-प्रद कहा गया है । नाम मुमुक्षुको—नामसे मुक्ति चाहनेवालोंको मुक्ति और कामनावालोंको समस्त काम्य वस्तुओंका दान करता है ।'

नाम ही परम तीर्थ है, नाम ही पुण्यप्रद क्षेत्र है, नाम ही परमदेव है, नाम ही परम तपस्या है, नाम ही परम दान है, नाम ही परम क्रिया है, नाम ही परम धर्म है, नाम ही अर्थ है, नाम ही भक्तका काम है, मोक्ष भी केवल नाम ही है, नाम ही परम भक्ति है, नाम ही परम गति है, नाम ही परम जाप्य है और नाम ही सर्वश्रेष्ठ है ।

अरे प्रियतम ! नाम लेनेसे तुझे वर्तमान एवं परलोककी कोई भी चिन्ता नहीं करनी होगी । मैं तेरा मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करूँगा । नाम ले, नाम ले ।

मा भैः, मा भैः, मा भैः !

अरे प्रियतम ! मैं तुझे कितना प्यार करता हूँ, जानता है ? तेरी आकाङ्क्षाको पूर्ण करके तुझे निराकाङ्क्षी बनानेके लिये तू जो चाहता है, मैं वही बनकर तेरे पास आता हूँ । तूने कामिनीकी चाह की, मैं नारी बनकर आ गया । ये सब तुच्छ कामनाएँ करके तू जन्म-जन्मान्तर केवल रोता है । इसीलिये तो पुकार रहा हूँ—अरे लौट आ ! लौट आ, अमृतसंतान ! जड़ देहकी ममता त्यागकर अपने सच्चिदानन्दमय आत्म-स्वरूपमें लौट आ । कैसे लौटेगा ! नाम-कीर्तन करते-करते ।

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णशुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥

(पद्मपुराण)

'नाम ही चिन्तामणिस्वरूप, चैतन्यरसविग्रह, पूर्ण शुद्ध, नित्यमुक्त स्वयं कृष्ण है; क्योंकि नाम और नामीमें भेद नहीं ।' समझा ? मुझमें और मेरे नाममें भेद नहीं, नामका आश्रय लेना और मुझे प्राप्त करना एक ही बात है ।

केवल नाम ले, तेरे रोग, शोक, दुःख, ज्वाला, अभाव—कुछ भी नहीं रहेगा । तू परमानन्दमय हो जायगा । मेरा पुण्य-नाम-संकीर्तन महापातकका नाश

करता है, कामीको सर्वकाम और भक्तको प्रेम प्रदान करता है।

जो अनन्य-गतिहीन, भोगी, परद्रोही, ज्ञान-वैराग्य-विहीन नामके द्वारा जिस गतिको पाते हैं, उस गतिको सभी धार्मिकगण नहीं पाते।

अरे प्रियतम! तू बड़ा ही मीठा नाम लेता है, मुझे बड़ा भला लगता है, इसीलिये मैं तेरे पास रहता हूँ और कहता हूँ—नाम ले, नाम ले।

अरे निश्चिन्त मनसे उच्च कण्ठसे नाम ले।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

मा भैः, मा भैः, मा भैः!

सत्यं परं धीमहि

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजद्वारा श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणकी व्याख्या)

मङ्गलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥*

(यह श्रीमद्भागवतके आरम्भका व्यासदेवका मङ्गलाचरण है।)

सत्कर्मोंमें अनेक विघ्न आते हैं। उन सभीके निवारणके लिये मङ्गलाचरणकी आवश्यकता है। कथामें बैठनेसे पहले भी मङ्गलाचरण करो।

शास्त्र कहते हैं कि देवगण भी सत्कर्ममें विक्षेप करते हैं। उनको ईर्ष्या होती है कि यह नारायणका ध्यान करेगा तो यह भी अपने समान ही हो जायगा। अतः उनसे भी प्रार्थना करनी आवश्यक है—'हे देवो! हमारे सत्कार्यमें विक्षेप न करना। सूर्य हमारा कल्याण करें, वरुणदेव हमपर कृपा करें।'

जिसका मङ्गलमय आचरण है उसका ध्यान करनेसे, उसे वन्दन करनेसे, उसका स्मरण करनेसे मङ्गलाचरण होता है। जिसका आचरण मङ्गल है उसका मनन और चिन्तन करना ही मङ्गलाचरण है। ऐसे एक परमात्मा हैं। परमात्मा श्रीकृष्णका नाम और धाम मङ्गल है।

संसारकी किसी वस्तु या जीवका चिन्तन न करो। ईश्वरका चिन्तन-ध्यान मनुष्य करे तो उसकी शक्ति मनुष्यको मिले।

क्रियामें अमङ्गलता कामादिके कारण आती है। काम-क्रोधादि जिसको स्पर्श करें, जिसे प्रभावित करें उसका सब कुछ अमङ्गल होता है। श्रीकृष्ण-को काम स्पर्श नहीं कर सकता, अतः उनका सभी कुछ मङ्गलमय है। जिसके मनमें काम हो, उसका स्मरण करनेसे उसका काम तुम्हारे मनमें भी आयेगा। सकामके चिन्तनसे अपनेमें सकामता आती है और निष्कामके चिन्तनसे मन निष्काम बनता है। शिवजीका सब कुछ अमङ्गल है फिर भी उनका स्मरण मङ्गलमय है; क्योंकि उन्होंने कामको जलाकर भस्मीभूत कर दिया

* जिससे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है, जड नहीं, चेतन है, परतन्त्र नहीं, स्वयं-प्रकाश जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं, प्रत्युत उन्हें अपने संकल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान-सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयम्प्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं।'

है। मनुष्य जबतक सकाम है तबतक उसका मङ्गल नहीं होता।

ईश्वर पूर्णतः निष्काम है, अतः उसका ध्यान कीजिये, स्मरण करो परमात्मा बुद्धिसे परे हैं। श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला निष्काम बनता है। श्रीकृष्णका सतत ध्यान न हो सके तो कोई आपत्ति नहीं है; किंतु जगत्के स्त्री-पुरुषोंका ध्यान कभी मत कीजिये। काम जिसे मार सके, पराजित कर सके उस जीव और कामको जो पराजित कर सके वह ईश्वर है।

मनुष्यका अपना अमङ्गल कार्य ही विघ्नकर्ता होता है, किसी औरका नहीं। प्रत्येक कार्यका आरम्भ मङ्गलाचरणसे करे। भागवतमें तीन मङ्गलाचरण हैं— प्रथम स्कन्धमें व्यासदेवका, द्वितीय स्कन्धमें शुकदेवजीका और समाप्तिमें सूतजीका।

शय्यापर सोया हुआ मनुष्य पाप अधिक करता है। अतः प्रभातके समय मङ्गलाचरण करें, मध्याह्न मङ्गलाचरण करें और रातको सोनेसे पहले मङ्गलाचरण करें।

व्यासजीने ध्यान करते हुए कहा कि एक ही स्वरूपका बार-बार चिन्तन करें। मनको प्रभुके स्वरूपमें स्थिर करें। एक ही स्वरूपका बार-बार चिन्तन करनेसे मन शुद्ध होता है। परमात्माके किसी भी स्वरूपको इष्ट मानकर उसका ध्यान करें।

ध्यानका अर्थ है मानसदर्शन। राम, कृष्ण, शिव या किसी भी स्वरूपका ध्यान करें। 'सर्वश्रेष्ठ सत्यस्वरूप प्रभुका ध्यान करता हूँ'—ऐसा श्रीव्यासजीने मङ्गलाचरणमें कहा है। व्यासजी ऐसा आग्रह नहीं करते कि एकमात्र श्रीकृष्णका ही ध्यान करें। वे किसी भी विशिष्ट स्वरूपका आग्रह नहीं करते। जो व्यक्ति जिस किसी स्वरूपके प्रति आस्थावान् हो, उसका ही वह ध्यान करे। ठाकुरजी जिस रूपमें हमें आनन्द दें, वही रूप उत्तम है। एक ही स्वरूपके अनगिनत नाम हैं। सनातन धर्मके अनुसार देव अनेक होते हुए भी ईश्वर तो एक ही है। मङ्गलाचरणमें किसी एक देवका नामोल्लेख नहीं है।

ईश्वर एक ही है, केवल उसके नाम और स्वरूप अनेक हैं।

वृषभानुकी आज्ञा थी कि राधाके पास जानेका किसी भी पुरुषको अधिकार नहीं है, अतः साड़ी पहनकर और चन्द्रावलीका शृंगार धारण कर कृष्णजी राधासे मिलने जाते हैं। कृष्ण साड़ी पहनते हैं, सो बाना बनते हैं।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

ईश्वरके अनेक स्वरूप हैं, किंतु तत्त्व एक ही है। दर्शकके आगे जिस-किसी रंगका शीशा (काँच) रखेंगे, उसी रंगका प्रकाश दिखायी देगा।

हर किसी देवका पूजन करें, किंतु ध्यान तो एक ईश्वरका ही करें।

रुक्मिणीकी भक्ति अनन्य है। पूजन देवीका करती हैं, फिर भी ध्यान तो कृष्णका करती हैं।

वन्दन हर किसी देवका करें, किंतु ध्यान तो किसी एक ही देवका करें। जिस किसी रूपमें आस्था और रुचि हो उसी रूपका ध्यान करें।

ध्यान, ध्याता और ध्येयमें एकत्व होना आवश्यक है और एकत्व होनेपर ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

ध्यानके समय किसी औरका चिन्तन मत करें। किसी चेतनका ध्यान करें, जड़का नहीं।

ध्यान करना ही है तो श्रीकृष्णका ध्यान करें। अनेक जन्मोंसे इस मनको भटकते रहनेकी आदत पड़ गयी है। ध्यानमें पहले तो संसारके विषय ही उभरते हैं। वे मनमें न आयें, ऐसा करनेके लिये ध्यान करते समय परमात्माके नामका बार-बार चिन्तन करें

जिससे मन स्थिर हो सके। उच्च स्वरसे कीर्तन करें। कृष्णके कीर्तनसे जगत्का विस्मरण होता है।

परमात्माके मङ्गलमय स्वरूपका दर्शन करते हुए कीर्तन करें। वाणी कीर्तन करे और आँख दर्शन करे तो मन शुद्ध और पवित्र होता है।

परमात्माका ध्यान करनेसे मन शुद्ध होता है। स्नानादिसे मनकी शुद्धि नहीं होती। संसारका चिन्तन करते रहनेसे विकृत हुआ मन ईश्वरका सतत चिन्तन किये बिना शुद्ध नहीं होता।

इस शरीर-जैसी मलिन वस्तु और कोई नहीं है। इस मलिन शरीरसे परमात्मासे मिलन नहीं हो सकता। इस शरीरका बीच अपवित्र है। ठाकुरजीसे मनसे मिलना है। बिना ध्यानके मनोमिलन नहीं हो सकता।

आँखसे श्रीभगवान्का दर्शन और मनसे स्मरण करेंगे तो परमात्माकी शक्ति मिलेगी। ईश्वरका ध्यान करनेसे ईश्वरकी शक्ति जीवको मिलती है। ध्यान करनेसे ईश्वर और जीवका मिलन होता है। बिना ध्यानके ब्रह्म-सम्बन्ध नहीं हो सकता।

ध्यानकी परिपक्व दशा ही समाधि है। वेदान्तमें इसे जीवन्मुक्ति माना गया है। समाधि दीर्घ समयतक रहनेसे ज्ञानियोंको जीते-जी मुक्तिका आनन्द मिलता है।

भागवतमें बार-बार कहा गया है कि ध्यान करो और जप करो। हर एक चरित्रमें इस सिद्धान्तका वर्णन किया गया है। पुनरुक्तिदोष नहीं है। किसी सिद्धान्तको बुद्धिमें दृढ़ करनेके लिये उसे बार-बार कहना पड़ता है। भागवतके प्रत्येक स्कन्धमें इस जप-ध्यानकी कथा है।

बिना ध्यानके ईश्वरका साक्षात्कार नहीं हो सकता। वसुदेव-देवकीने ग्यारह वर्षोंतक ध्यान किया तो उन्हें परमात्मा मिले। भागवतका आरम्भ ध्यानयोगसे किया गया है।

जो मनुष्य ईश्वरका ध्यान करेगा वही ईश्वरको प्रिय होगा।

साधनमार्गका आश्रय लेकर ज्ञानी मुक्त होते हैं। ज्ञानी ज्ञानसे भेदका निषेध करते हैं। ज्ञानमार्गका लक्ष्य है ज्ञानसे भेदको दूर करना; भक्तिसे भेदको दूर करना भक्तिमार्गका लक्ष्य है। ध्येय एक ही है। सो भागवतका अर्थ ज्ञानपरक और भक्तिपरक हो सकता है। मार्ग और साधन भिन्न-भिन्न हैं, किंतु ध्येय तो एक ही है।

इसी कारण सगुण और निर्गुण—दोनोंकी आवश्यकता है। वैसे तो ईश्वर अरूप है; किंतु जिस रूपकी भावनासे वैष्णवजन तन्मय होते हैं, वैसा स्वरूप भी ईश्वर धारण कर लेता है। सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपोंका भागवतमें निरूपण है। निर्गुणमें प्रभु सर्वत्र हैं और रूपसे श्रीकृष्ण गोलोकमें विराजते हैं। इष्टदेवमें पूर्णतया विश्वास रखकर ऐसा विश्वास रखें कि जगत्के जड़ और चेतन सभी पदार्थोंमें प्रभुका वास है। मङ्गलाचरणका सगुण-निर्गुणपरक अर्थ हो सकता है।

क्रिया और लीलामें अन्तर है। प्रभु जो करें—वह है, 'लीला' और जीव जो करे—वह है 'क्रिया'।

क्रिया बन्धनरूप है, कारण, उसके साथ कर्ताकी आसक्ति, स्वार्थ और अहङ्कारका सम्बन्ध होता है। ईश्वरकी लीला बन्धनसे मुक्त करती है। कारण यह कि ईश्वरको स्वार्थ और अभिमान छू नहीं सकते। जिस कार्यमें कर्तृत्वका अभिमान नहीं होता, वह है लीला। केवल जीवोंको परमानन्दका दान करनेके लिये प्रभु लीला करते हैं। यही कारण है कि मक्खनचोरी, रास आदि सभीको व्यासजी लीला कहते हैं। श्रीकृष्णजी मक्खनकी चोरी तो करते हैं, किंतु अपने लिये नहीं, मित्रोंके लिये।

व्यासजी ब्रह्मसूत्रमें लिखते हैं—**'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** दैवी-जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही भगवान् लौकिक जीवों-जैसी लीला करते हैं।

जगत्‌की उत्पत्ति लीला है, स्थिति लीला है और विनाश भी लीला है। विनाशमें भी आनन्द है। सबका द्रष्टा मैं हूँ। 'मैं' का नाश नहीं होता। अहम् ('मैं') का विनाश न हो उसे भी ज्ञानी पुरुष लीला ही कहते हैं। 'मैं' भी ईश्वरका अंश है; किंतु यह 'मैं' अहङ्कार नहीं बनना चाहिये।

कृष्ण गान्धारीसे मिलने गये तो गान्धारीने उन्हें शाप दिया कि तुम्हारे वंशमें भी कोई नहीं रहेगा; क्योंकि तुमने मेरे वंशमें किसी एकको भी नहीं रहने दिया है। परंतु कृष्ण इसमें भी आनन्दित हैं। वे कहते हैं कि माताजी! मैं भी यही सोचता था कि इन सबका विनाश कैसे करूँ। ठीक ही हुआ कि आपने शाप दिया।

'शान्ताकारं भुजगशयनम्'—यदि सर्पपर शयन करना पड़े तो भी परमात्माको शान्ति ही मिलती है। लोगोंको शय्या और पलंग मिले तो भी शान्ति नहीं मिलती। श्रीकृष्णकी शान्ति कैसी है!

लय भी भगवान्‌की लीला है। जीवको उत्पत्ति और स्थिति भाती है; परंतु लय नहीं।

ब्रह्माजीको वेदतत्त्वका ज्ञान देनेवाले और जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, संहारके कारणभूत श्रीपरमात्माका हम ध्यान करते हैं। आदिकवि ब्रह्माको जिस दिव्य ज्ञानका उन्होंने दान किया उसका वर्णन हम करते हैं।

भगवान्‌के ध्यानमें तन्मयता न होगी तो संसारका ध्यान होता रहेगा। उसे छोड़नेका प्रयत्न करें। ध्यानके प्रारम्भमें संसार दिखायी देगा। प्रत्येक साधकको ऐसा ही अनुभव होता है। ईश्वरका ध्यान न हो सके तो कुछ आपत्ति नहीं है, किंतु संसारका, नर-नारीका, धन-सम्पत्तिका ध्यान नहीं होना चाहिये।

दर्शन करनेके बाद भी ध्यानकी आवश्यकता है। मन्दिरके चौकेपर बैठनेकी प्रथाका कारण भगवान्‌के ध्यानका है, सांसारिक बातकी नहीं। मन्दिरमें जिस स्वरूपका दर्शन किया हो, उसीका ध्यान और चिन्तन चौकेपर बैठकर करें। आरम्भमें व्यासजी ध्यान करनेकी आज्ञा देते हैं।

सत्कर्म करते समय अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, जिनका नाश परमात्माके ध्यानसे होता है।

मङ्गलाचरणमें व्यासजी कहते हैं—**'सत्यं परं धीमहि'**—'हम सत्यस्वरूप परमात्माका ध्यान करते हैं।' क्योंकि यदि वे श्रीकृष्णका ही ध्यान करनेकी बात कहते तो शिवभक्त, दत्तात्रेयभक्त, देवीभक्त आदि ऐसा मानते कि भागवत तो श्रीकृष्णके भक्तोंका ही ग्रन्थ है।

व्यासजीने किसी विशिष्ट स्वरूपके ध्यानका निर्देश नहीं किया है। केवल सत्यस्वरूप प्रभुका ध्यान करनेको कहा है; किंतु जिसे जिस-किसी स्वरूपके प्रति आस्था हो, उसीका वह ध्यान करे। (स्वरूप सभी सत्य हैं, रूप भिन्न-भिन्न हैं।)

संसारमें विभिन्न लोगोंकी रुचि एक-सी नहीं होती। शिवमहिम्नःस्तोत्रमें कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥'

साङ्गोपाङ्ग वेद, सांख्य, योग, पाशुपतशास्त्र, वैष्णवशास्त्र आदि भिन्न-भिन्न शास्त्रोंकी आस्थावाले लोग अपने-अपने शास्त्रोंको सर्वोत्तम मानते हैं और अपनी-अपनी मनोवृत्तिके अनुसार उसे सरल तथा कल्याणकारी मार्ग बताते हैं· किंतु सच तो यह है कि इन सभी मतोंका प्राप्तिस्थान, लक्ष्य तो एक ही है, जैसे सीधी और टेढ़ी-मेढ़ी जलप्रवाहवाली सभी नदियाँ समुद्रमें ही पहुँचती हैं।

हर किसीकी रुचि और आस्था भिन्न-भिन्न होनेके कारण परमात्मा शिव, गणेश, रामचन्द्र आदि विविध स्वरूपोंको धारण करते हैं।

सत्य अविनाशी, अबाधित, अपरिवर्तनशील है। सुख-दुःख, लाभ-हानि आदिके कारण परमेश्वरके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

गीताजीमें भगवान् कहते हैं—

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः॥'

जिसका मन दुःखकी प्राप्तिके समय उद्वेगरहित और सुखके समय स्पृहारहित रहता है, वही स्थितप्रज्ञ है। श्रीकृष्णने अपने वचनके अनुसार ही जीवन दिया। श्रीरामचन्द्रजीको भी राज्याभिषेक और वनवासके समय एक-सा आनन्द था। श्रीकृष्णको सोलह हजार रानियोंसे सेवा पाते समय, सुवर्णकी द्वारकासे और सर्वनाशके समय एक-सा ही आनन्दानुभव हुआ था।

श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—उद्धव ! यह सब जगत् मिथ्या है, केवल मैं ही एक सत्य हूँ।

जगत् असत्य है, परमात्मा सत्य है। भूत, वर्तमान और भविष्यमें जो एक ही स्वरूप धारण करे, वही सत्य है। इसीसे भगवान् व्यासजी कहते हैं कि हम सत्यका ही ध्यान करते हैं, किसी और देवका नहीं। सो सत्यसे ही स्नेहभाव रखें। यदि सुखी होना है तो सत्य-स्वरूप परमात्माके साथ प्रेम करें। जगत् असत्य है। दुनियाके पदार्थ दुःखदायी हैं। व्यवहारमें जगत् सत्य-सा ही लगता है, किंतु परमार्थदृष्टिसे, तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो जगत् सत्य नहीं है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष जगत्का चिन्तन नहीं करते और जगत् अनित्य है, ऐसा बार-बार सोचते हैं।

जिन्हें परमात्माका अपरोक्ष ज्ञान होता है, वे जगत्का सम्मान नहीं करते। स्वप्नके टूट जानेके बाद जैसे स्वप्न मिथ्या लगता है, वैसे ही भगवान्के साक्षात्कारके बाद जगत् मिथ्या लगता है। मनुष्य सदा एक स्वप्नमें नहीं रहता। ईश्वरका एक ही स्वरूप है। उसपर काम, क्रोध, लोभ आदि असर नहीं डाल सकते। वह स्वयं आनन्दरूप है। ईश्वरके बिना जो भी दिखायी देता है वह सब माया है, असत्य है और भासमात्र है।

नकली रुपयेसे किसीको कोई मोह नहीं होता। उसी प्रकार इस असत्य-नकली संसारसे मोह न करें। स्त्री-पुरुष-मिलन सुखद है, किंतु वियोग अति दुःखद है। वियोग अवश्यम्भावी है—ऐसा समझकर इस जगत्के जीवोंसे प्रेम न करें। परमात्मा अविनाशी हैं, इसलिये उन्हींसे प्रेम करें।

अँधेरेमें रस्सी सर्प-सी लगती है, किंतु प्रकाश होनेपर ज्ञान होनेसे ही यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है। इस सर्परज्जुन्यायकी दृष्टिसे ही इस असत्य संसारको अज्ञानी मानव सत्य मानता है। जगत्का भास ईश्वरके प्रति अज्ञान होनेके कारण ही होता है। ईश्वरका ज्ञान न होनेसे ही तुम्हें यह जगत् सत्य लगता है। वैसे तो यह दृश्य जगत् भ्रामक है, मिथ्या है। किंतु परमात्मा-द्वारा आधृत होनेके कारण यह सत्य-सा लगता है।

परमात्मा सत्य है, इसलिये जगत् असत्य होनेपर भी सत्य-सा ही लगता है। जगत्का अधिष्ठान, आधार ईश्वर है और ईश्वर सत्य है सो जगत् भी सत्य लगता है। यदि राजा नकली मोतियोंका हार पहने, फिर भी उसकी प्रतिष्ठाके कारण जनता उसे उस हारको असली मोतियों-का ही मानेगी। गरीब व्यक्तिका सच्चे मोतियोंका हार उसकी गरीबीके कारण नकली ही समझा जायगा। इस तरह यह जगत् नकली मोतियोंका हार है, जिसे परमात्माने अपने गलेमें पहन रखा है।

जगत्में रहते हुए भी इसे मिथ्या समझे। दृश्यमान वस्तु नाशवान् ही होती है—**'यद् दृष्टं तन्नष्टम्'**, इसलिये बाह्य दृश्यमान जगत्को आभासमात्र समझें।

आदर्श पत्नी

[कहानी]

(पं० श्रीशिवनाथजी दूबे साहित्यरत्न)

उस छोटे-से गाँवके पूरब था सोनका प्रवाह और उसके तटके समीप ही छोटा-सा बगीचा था। आम, जासुन, महुआ, नीम और इमलीके वृक्ष लगे थे उसमें। बगीचेमें रानीके पिताने फूसकी छोटी-सी झोपड़ी बना रखी थी।

सावन-भादोंके महीनोंमें जब मेघ बरसने लगते तो रानीका पिता घरसे भागकर वहाँ आ जाता। माघ-पूसके दिनोंमे जब शीत समीर तीरकी तरह लगता, तब भी वह उसी झोपड़ीमें पुआलपर कम्बलसे अपनी काया ढके पड़ा रहता और गर्मीके दिनोंमें जब आकाश ताँबेकी चद्दरके समान लाल हो जाता, पृथ्वी भाड़की तरह धधकने लगती और हवा आगकी लपटोंकी तरह दौड़ती, तब भी वह उसी झोपड़ीमें बैठता, सोता और तम्बाकू पीता। मिट्टीका घड़ा और एक लोटा वह उस झोपड़ीमें सदा रखे रहता।

पर जब तीन दिनकी बीमारीमें वह रानी और अपनी माँको असहाय छोड़कर चला गया, तब सब कुछ बदल गया। अभी पूरा एक वर्ष तो नहीं हुआ, झोपड़ी जीर्ण हो गयी। वर्षामें उसकी फूस भी नहीं बदली जा सकी। बदलनेकी अपेक्षा भी बुढ़ियाको नहीं। जलभरा मिट्टीका घड़ा और लोटा भी वह नहीं रखती थी; वह तो सारे दिन खेतके कामसे इस तरह चिपकी रहती कि प्यास उसके पास फटकने नहीं पाती। और, रानीको तो जब भी तृषा लगती, वह सोनकी ओर चल पड़ती और वहाँ अञ्जलि भर-भर भरपेट पानी पी लेती।

उस दिन जब रानीका मन घरपर नहीं लगा, तब वह अपने बगीचे आ गयी। सोनकी ओर पीठकर वह बैठी हुई विचारोंकी उधेड़-बुनमें लगी थी। उसने देखा, दिन ढल चला है। प्रतीचीके आँगनमें अंशुमालीने सिन्दूर बिखेर दिया है। उसका सिन्दूरी प्रतिबिम्ब खेतों और वृक्षोंकी चोटियोंपर पड़ रहा है। हवा धीरे-धीरे बह रही है।

अत्यन्त सुहावना दृश्य था उस समयका, किंतु रानीका अशान्त मन तनिक भी नहीं बदल पाया। उसने सोनकी ओर मुँह फेर लिया। देखा, सोन सिमटकर मोटी रेखा-सी बन गया है। उसके विस्तृत पाटमें फैली हुई बालुकाएँ सिन्दूरी किरणोंका संस्पर्श पाकर लाल हो रही हैं। सोनके पानीमें जैसे गुलाल घोल दिया गया हो। पर उसके तटके वृक्ष मुँह लटकाये शान्त खड़े हैं।

रानीको कुछ अच्छा नहीं लगा। उसने दोनों हाथोंसे अपना सिर थाम लिया। आँसुओंसे उसकी हथेली भीग गयी, वह रोती ही रही। उसने सिर उठाया तो देखा, सामने एक अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ नील-गाय भागी जा रही है।

आँचलके छोरसे उसने आँसू पोंछे। लाल आँखोंसे उसने देखा, स्वच्छाकाशमें चतुर्दशीका चन्द्र चमक रहा है। वह धीरे-धीरे घरकी ओर चल पड़ी।

'भूख नहीं है, माँ।' माँके आग्रहका संक्षिप्त उत्तर देकर वह पड़ोसीके घर कथा सुनने चली गयी।

'स्त्रियाँ शक्तिस्वरूपा' हैं।' विद्वत्ताके साथ त्याग और तपस्याका संयोग कथावाचककी वाणी एवं तेजस्वी ललाटसे भासित हो रहा था। वे कह रहे थे—'उमा, राम और ब्रह्माणी हमारी देवियाँ ही हैं। वे सूर्यका रथ रोक

सकती हैं, अल्पायुको दीर्घायु और अत्यन्त दरिद्रको विपुल वैभवसम्पन्न कर सकती हैं। सृष्टि और प्रलयकी क्षमता पालना झुलानेवाले कोमल करोंमें विद्यमान है। सती गृहिणीके लिये कुछ भी असम्भव नहीं।'

कथावाचकका एक-एक शब्द रानीके हृदयमें बैठता जा रहा था। कथा समाप्त होते ही वह उठी और अपनी मौसीके घर चली गयी। उसकी मौसी उसके पड़ोसमें ही ब्याही गयी थी।

'आज रातमें कैसे, रनिया ?' मौसीके प्रश्नके उत्तरमें रानीकी आँखोंसे आँसू झरने लगे। उसने सिसकते हुए कहा—'मेरी बात नहीं मानेगी तो मैं अफीम चाट जाऊँगी, मौसी।'

'क्या हुआ, बेटी ?' मौसी घबरा गयी। उसने तुरंत कह दिया—'तू जो कहेगी, मैं सब करूँगी।'

'रुपयेके लोभमें आकर माँ आफत कर रही है, मौसी !' रानीने धीरे-धीरे कहा। 'पिताजीको मरे कुछ दिन भी नहीं बीत पाये कि रामपुरके कोयरीने जिसकी उमर पैंतालीस पार कर गयी है, माँको रुपयेके सहारे बहका लिया है। माँ कहती है, हमारी जातिमें तो दुबारा सगाई होती ही है, अभी तो इसका गौना भी नहीं हो पाया है। पर मैं यह सब नहीं चाहती, मौसी !'

'पर अभी-अभी तो तेरे ससुरके भी मरनेका समाचार आया है न।' उसकी मौसीने सोचते हुए कहा। 'अब तो वहाँ तेरे पति और सासके सिवा और कोई नहीं रह गया। वह गरीब भी है। सुनती हूँ कि वह बड़ी मुश्किलसे कमा-खा सकता है। तेरी माँ तो तेरे सुखके लिये ऐसा करना चाहती है, बेटी !'

'पर मैं कुतियोंकी तरह मनमानी नहीं कर सकती, मौसी !' रानी फफक पड़ी। 'आधा पेट खाकर सो जाना मैं अच्छा समझूँगी; पर दुबारा सिन्दूरदान नहीं कराऊँगी। मुझे बचा ले, मौसी ! मैं मरनेतक तेरा अहसान नहीं भूलूँगी।' उसकी हिचकियाँ बँध गयीं।

'कल सबेरे ही अपने लड़केको तेरे ससुराल भेज देती हूँ।' उसकी मौसीकी आँखें भी गीली हो गयीं। रानीको अपनी गोदमें दबाते हुए उसने कहा—'तेरा विचार बहुत अच्छा है, बेटी !'

रानी सबेरे ससुराल पहुँच गयी।

× ×

रामू अच्छी तरह जानता था कि उसकी पत्नी साक्षात् देवी है। वह यदि नहीं चाहती तो रामू उसे अपने घर नहीं देख पाता और जबसे उसने घरमें पैर रखा है, उसका घर जैसे स्वर्ग बन गया है। लगता है, जैसे लक्ष्मी उसके घरमें दिन-रात हँसती-खेलती रहती है।

पत्नीके आनेके पूर्व उसकी माँ कभी दोपहरको स्नान करती तो कभी तीसरे पहरको। कभी ऐसा भी आता कि वह वस्त्र भी नहीं बदलती; लेकिन उसकी पत्नीने उसे बिल्कुल बदल दिया है। अपने साथ प्रातःकाल ही वह माँको स्नान करा देती है, उसके कपड़े वह स्वयं धोती है। धोकर फैला देती है।

उसने आँगनमें तुलसीका बिरवा लगा दिया है। सबेरे ही माँ और वह वहाँ जल चढ़ाती हैं, श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करती हैं। रानीके आग्रहसे दो बैलोंके साथ एक गाय भी रहने लगी है। गो-पूजन प्रतिदिन नियमितरूपसे होता है। परिवारमें श्रद्धा-भक्ति और प्रेमकी सरिता प्रवाहित होती रहती है।

पर वह विवश था। गाँजा पीनेकी ऐसी बुरी लत उसे लग गयी थी कि वह उसे छोड़ नहीं पाता। उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि वह प्रतिदिन चिलमपर फूँक दिया करे। इसके लिये कितनी बार रानीने विनयपूर्वक मना किया, पर······क्या किया जाय, वह मन-ही-मन पश्चात्ताप कर रहा था।

अकस्मात् माँकी गालियोंकी बौछार सुनकर रामूकी विचारधारा टूट पड़ी । वह दौड़ पड़ा । उसकी माँ पत्नीको बड़े जोरोंसे डाँट रही थी और क्रोधावेशमें उसपर हाथ उठाने जा रही थी । रानी सिर नीचा किये चुप थी ।

रामूने माँको डाँटना शुरू ही किया था कि उसकी पत्नी बीचमें आ गयी । हाथ जोड़ते हुए उसने कहा—'अपराध तो मेरा ही है । चावलभरी बटुली तो मुझसे ही उलट गयी थी ।'

'तो तुमने जानकर तो उलटा नहीं होगा'—क्रोधसे काँपता हुआ रामू बोल गया । 'पर माँ तो माँ है न ।' रानी रो पड़ी ।

रामू बाहर चला गया ।

माँने पैर खींच लिया । रात्रिमें रानी माँको तैल न लगाये, यह उसके लिये सह्य नहीं था । वह रो पड़ी और रोती ही रही ।

'ले, बहू ! तेल लगा' आधी राततक पैरोंके पास बैठे रोते देखकर रामूकी माँका कलेजा हिल गया था । वह अपने भाग्यकी सराहना करती हुई मन-ही-मन बहूको आशीष दे रही थी ।

'आज तो मेरे पास पैसे नहीं ।' मध्याह्नतक धरती चीरते रामू थक गया था । रानीका उत्तर वह सह नहीं सका, उसे क्रोध आ गया । वह उठा और रानीको उसने तीन-चार लात जमा दी । वह रोने लगी ।

रामूकी माँ उस समय घरमें नहीं थी । लौटकर बहूको रोते देखा तो रामूपर बिगड़ खड़ी हुई । 'तुझे शर्म नहीं आती ?'

'उन्हें कुछ मत कहो, माँ ।' पुत्रवधूने मुँह थाम लिया । वह कुछ नहीं बोल पायी । और उसी दिन रामूके सिरमें दर्द होने लगा । रानीने देखा उसका शरीर तवेकी तरह जल रहा था । वह काँप उठी ।

× × ×

दो मास बीत गये । ज्वर नहीं छूटा । रामू सूखकर काँटा हो गया । उसके शरीरमें चर्माच्छादित अस्थियोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था । रामूकी माँ जीवित शवकी भाँति रामूके समीप बैठी रहती । कर्तव्याकर्तव्य कुछ नहीं सूझ रहा था उसे ।

—और रानी ! उसका तो प्राण ही छिनने जा रहा था । पर धैर्य और साहससे काम लिया उसने । प्रातःस्नान और गौ तथा तुलसीजीका पूजन वह और मनोयोग एवं श्रद्धासमन्वित हृदयसे करने लगी । तुलसीकी प्रार्थना करते समय उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धाराएँ बह चलतीं ।

इसके बाद पतिके कपड़े बदलवाकर उन्हें औषध पिलाती । फिर माँको आश्वासन देकर खुर्पी-खाँचो ले घासके लिये निकल पड़ती ।

पूरे दो घंटे नहीं बीत पाते कि उसकी खाँची भर जाती । जल्दी-जल्दी गाय-बैलोंको खिला-पिलाकर वह दौड़ती हुई घर आती । अपने पेटका खड्डा भरनेके लिये उसे कोई चिन्ता नहीं थी । यदि सासको नहीं खिलाना होता तो कदाचित् वह दो-तीन दिनोंमें ही एकाध बार रोटी बनाती । रात आधी पार हो जाती, पर वह पतिके समीप बैठी हुई समझाती और उसके स्वास्थ्यके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना करती रहती ।

अपनी पत्नीके अनन्य प्रेम और श्रमपूर्ण सेवासे रामू उसका ऋणी हो गया । उसे अपने जीवनकी आशा नहीं रह गयी थी, इस कारण जब भी उसे रानीको मारनेकी याद आती तो उसका कलेजा छिल जाता । वह सोचता 'ऐसी लक्ष्मीपर हाथ उठानेके पहले मेरा हाथ टूट क्यों नहीं गया ।'

'मेरे लिये यह कितना कष्ट उठाती है । मुझे तनिक भी चिन्ता स्पर्श न कर सके, इसके लिये यह

कितना प्रयत्न करती है ।' वह मन-ही-मन सोच रहा था; तनिक-सी इच्छा प्रकट करते ही रानी दौड़ गयी और गाँजा चिलमपर रख दिया । आगकी चिनगारी स्पर्श करते ही गाँजेकी गन्ध फैल गयी । रामूने चिलम ले ली ।

उसने चिलम थाम ली और शीघ्र ही उसे फेंक दिया । 'अब मैं गाँजा कभी नहीं पीऊँगा । इसी कारण तो मैंने तुमपर हाथ उठाया था ।' रामूकी धँसी आँखें गीली हो गयीं । उसने सिसकते हुए कहा—'यदि अबकी बार भगवान्‌ने मेरी जान बचा दी तो मैं गाँजा कभी नहीं पीऊँगा ।' रानीकी आँखें भी बह रही थीं ।

× × ×

पतिकी चिकित्साके लिये रानीने अपने एक-एक करके सब गहने बेच दिये थे । ओषधिके साथ भगवत्प्रार्थनाके संयोगसे रामूका ज्वर शान्त हो गया और वह धीरे-धीरे सुधरने लगा ।

रामू स्वस्थ हो गया । वह सुखी था । पर जिस समय उसे अपनी पत्नीके आभूषणहीन अङ्गपर दृष्टि जाती, वह व्याकुल हो जाता । 'आभूषणके लिये स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं । अभी उस दिन उसके पड़ोसमें भैंस बेचकर तो हँसुली बनी थी ।' विचारके आवेगमें वह छटपटा जाता था । मनकी व्यथा वह पत्नीपर प्रकट नहीं करता ।

'तुम्हारे शरीरपर एक भी गहना नहीं ?' पड़ोसिनने रानीसे पूछा ।

'ऋण लेकर मैं गहना नहीं पहनना चाहती ।' रानीने तुरंत उत्तर दिया ।

और उसी समय रामू खेतसे आ रहा था । पत्नीकी गर्वोक्ति उसने भी सुन ली । उसका हृदय गद्‌गद हो गया ।

'तुम स्त्री नहीं, देवी हो, रानी !' हर्षोत्फुल्ल रामूने कहा । 'तुम्हारी-जैसी स्त्रियाँ भगवान् करे घर-घर·····'

रामूका वाक्य पूरा होनेके पूर्व ही रानीने उसकी चरणधूलि ले ली ।

भगवत्-चरणोंकी वन्दना

बंदौं चरन-सरोज तिहारे ॥
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे ।
जे पद-पदुम सदा सिव के धन, सिंधु-सुता उर तैं नहिं टारे ॥
जे पद-पदुम तात-रिस-त्रासत, मन-बच-क्रम प्रह्लाद सँभारे ।
जे पद-पदुम-परस-जल-पावन-सुरसरि-दरस कटत अघ भारे ॥
जे पद-पदुम-परस रिषि-पतिनी, बलि, नृग, ब्याध, पतित बहु तारे ।
जे पद-पदुम रमत बृंदाबन अहि-सिर धरि, अगनित रिपु मारे ॥
जे पद-पदुम रमत पांडव-दल, दूत भए, सब काज सँवारे ।
सूरदास तेई पद-पंकज, त्रिबिध-ताप-दुख-हरन हमारे ॥

(सूर-विनयपत्रिका २)

गीता-माधुर्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृतिका एक अद्भुत ग्रन्थ है, जिसमें सम्पूर्ण उपनिषदों एवं शास्त्रोंका सार-तत्त्व भरा है। परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजने श्रीमद्भगवद्गीतापर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं तथा जनताजनार्दनके कल्याणार्थ गीताके गूढ़ तत्त्वोंको अत्यन्त सरल भाषामें सर्वसामान्यको समझानेका प्रयास किया है। यह निबन्ध भी उसी शृङ्खलाकी एक कड़ी है। प्रस्तुत निबन्धकी विशेषता यह है कि पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजने इसमें गीताके प्रत्येक विषयको पाठकोंके समक्ष प्रश्नके रूपमें प्रस्तुत किया है तथा प्रश्नकी सीमाके अन्तर्गत संक्षिप्त-रूपसे अत्यन्त सरस-सुबोध भाषामें उन प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर दिया है। सामान्य प्रश्नोंके साथ-साथ दार्शनिक प्रश्नोंका समाधान भी अत्यन्त सुगमतासे किया है जो सर्वसाधारणके लिये अत्यधिक बोधगम्य एवं रुचिकर है। इसीलिये इसका नाम 'गीता-माधुर्य' रखा गया है, जिसकी शैली नवीनतम होनेके साथ-साथ पूर्ण मनोहारिणी भी है। आशा है, पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे।——सम्पादक]

पाण्डवोंने बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके समाप्त होनेपर जब प्रतिज्ञाके अनुसार अपना आधा राज्य माँगा, तब दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तीखी सुईकी नोक-जितनी जमीन भी बिना युद्धके देना स्वीकार नहीं किया। अतः पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पाण्डवों और कौरवोंका युद्ध होना निश्चित हो गया और तदनुसार दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

महर्षि वेदव्यासजीका धृतराष्ट्रपर बहुत स्नेह था। उस स्नेहके कारण उन्होंने धृतराष्ट्रके पास आकर कहा कि 'युद्ध होना और उसमें क्षत्रियोंका महान् संहार होना अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम यहाँ बैठे-बैठे ही युद्धको भली-भाँति देख सकते हो'। इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं जन्मभर अन्धा रहा। अब अपने कुलके संहारको मैं देखना नहीं चाहता। परन्तु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार जरूर सुनना चाहता हूँ।' तब व्यासजीने कहा कि 'मैं संजयको दिव्यदृष्टि देता हूँ, जिससे यह सम्पूर्ण युद्धको, सम्पूर्ण घटनाओंको, सैनिकोंके मनमें आयी हुई बातोंको भी जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा।' ऐसा कहकर व्यासजीने संजयको दिव्यदृष्टि प्रदान की।

निश्चित समयके अनुसार कुरुक्षेत्रमें युद्ध आरम्भ हुआ। दस दिनतक संजय युद्धस्थलमें ही रहे। जब पितामह भीष्म बाणोंके द्वारा रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने हस्तिनापुरमें (जहाँ धृतराष्ट्र विराजमान थे) आकर धृतराष्ट्रको यह समाचार सुनाया। इस समाचारको सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा दुःख हुआ और वे विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजयसे युद्धका सारा वृत्तान्त सुनानेके लिये कहा। भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायतक संजयने युद्ध-सम्बन्धी बातें धृतराष्ट्रको सुनायीं। पचीसवें अध्यायके आरम्भमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं—

पहला अध्याय

हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डुपुत्रोंने क्या किया?

संजय उत्तर देते हैं—व्यूह-रचनासे स्थित पाण्डवोंकी सेनाको देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया।

द्रोणाचार्यके पास जाकर उसने क्या किया संजय?

द्रोणाचार्यके पास जाकर वह बोला—हे आचार्य! आप अपने शिष्य द्रुपदपुत्रके द्वारा व्यूह-रचनासे खड़ी की हुई इस बड़ी भारी पाण्डवसेनाको देखिये।

पाण्डवसेनामें मैं किन-किनको देखूँ दुर्योधन?

इस सेनामें बलमें भीमके समान और युद्धकलामें अर्जुनके समान बड़े-बड़े धनुषोंवाले शूरवीर हैं। सात्यकि, विराट्, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, पराक्रमी उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी हैं। ये सब-के-सब महारथी हैं।

पाण्डवसेनाके शूरवीरोंके नाम तो तुमने बता दिये, पर अपनी सेनाके शूरवीरोंके नाम नहीं बताओगे क्या दुर्योधन?

हे द्विजवर ! हमारी सेनाके जो विशेष-विशेष पुरुष हैं, उनके नाम भी आप सुन लीजिये । आप (द्रोणाचार्य), पितामह भीष्म, कर्ण, समितिंजय कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा तथा इनके सिवाय और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले, युद्धकलामें बड़े निपुण और मेरे लिये प्राण देनेवाले हैं ।

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान योद्धाओंको दिखानेके बाद दुर्योधनके मनमें क्या आया संजय ?

उसके मनमें आया कि उभयपक्षपाती भीष्मके द्वारा रक्षित हमारी सेना पाण्डव सेनापर विजय करनेमें अपर्याप्त—असमर्थ है और निजपक्षपाती भीमके द्वारा रक्षित वह सेना हमारी सेनापर विजय करनेमें पर्याप्त—समर्थ है ।

उसके मनमें ऐसा भाव आनेपर उसने क्या किया संजय ?

उसने सभी शूरवीरोंसे कहा कि आप लोग अपने-अपने मोर्चोंपर स्थित रहते हुए ही भीष्मकी चारों ओरसे रक्षा करें* ।

अपनी रक्षाकी बात सुनकर भीष्मजीने क्या किया संजय ?

दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये पितामह भीष्मने सिंहके समान गरजकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया ।

भीष्मजीके द्वारा शङ्ख बजानेके बाद क्या हुआ ?

भीष्मजीने तो दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शङ्ख बजाया, पर कौरवसेनाने इसको युद्धारम्भकी घोषणा ही समझी । अतः भीष्मके शङ्ख बजाते ही कौरव-सेनाने अपने-अपने बाजे बजाने शुरू कर दिये ।

कौरव-सेनाके बाजे बजनेके बाद क्या हुआ संजय ?

कौरव-सेनाके बाजे बजनेके बाद पाण्डवसेनाके बाजे बजने चाहिये थे, पर उस सेनाको कोई आज्ञा नहीं मिली । तब सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने 'पाञ्चजन्य' और अर्जुनने 'देवदत्त' नामक शङ्ख बजाये । उसके बाद भीमने 'पौण्ड्रनामक, युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नामक, नकुलने 'सुघोष' नामक और सहदेवने 'मणिपुष्पक' नामक शङ्ख बजाये ।

फिर और किसने शङ्ख बजाये संजय ?

पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न, राजा विराट्, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और महाबाहु सुभद्रा-पुत्र (अभिमन्यु)—इन सभी महारथियोंने अपने-अपने शङ्ख बजाये ।

पाण्डवसेनाकी शङ्खध्वनिका क्या परिणाम हुआ संजय ?

उस भयङ्कर ध्वनिने आकाश और पृथ्वीको गुँजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य-धारण करनेवाले आपके पक्षके सैनिकोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ।

दोनों तरफसे शङ्ख बजानेके बाद पाण्डवोंने क्या किया ?

शङ्खोंके बजनेके बाद युद्ध आरम्भ होनेके समय आपके सम्बन्धियोंको देखकर कपिध्वज अर्जुन अपना धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान्से बोले—हे अच्युत ! आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दीजिये ।

बीचमें रथ खड़ा क्यों करूँ अर्जुन ?

मैं इस रणभूमिमें इन युद्धकी इच्छावाले शूरवीरोंको देख लूँ कि मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है और यहाँ युद्धमें जो दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं, उनको भी मैं देख लूँ ।

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान्ने क्या किया संजय ?

संजय बोले—राजन् ! अर्जुनके द्वारा ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें रथको खड़ा करके सम्पूर्ण कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा ।

भगवान्के ऐसा कहनेपर क्या हुआ ?

तब वहाँ दोनों सेनाओंमें पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र और मित्रोंको तथा श्वसुरों, सुहृदों और बान्धवोंको देखकर पृथानन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त होकर विषाद करने लगे ।

विषाद करते हुए अर्जुन क्या बोले संजय ?

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! अपने खास कुटुम्बियोंको युद्धके लिये सामने खड़े हुए देखकर मेरे सब अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीरमें कँप-कँपी आ रही है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, गाण्डीव धनुष हाथसे गिर रहा है, त्वचा जल रही है, उनके सामने खड़े रहनेमें भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ और मेरा मन भ्रमित हो रहा है ।

* दुर्योधन यह जानता था कि द्रोण और भीष्म उभयपक्षपाती हैं । अतः उनको राजी करके अपने पक्षमें लानेके लिये दुर्योधन पहले जैसे द्रोणाचार्यके पास गया, ऐसे ही यहाँ भीष्मको राजी करनेके लिये सभी वीरोंसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये कह रहा है ।

इसके सिवाय और क्या देख रहे हो अर्जुन ?

मैं शकुनोंको भी विपरीत देखता हूँ और युद्धमें इन कुटुम्बियोंको मारकर कोई लाभ भी नहीं देखता हूँ।

युद्ध किये बिना राज्य कैसे मिलेगा ?

मैं न विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुख ही चाहता हूँ, क्योंकि विजयसे, राज्यसे और सुखसे क्या लाभ ?

जब तुम विजय आदि नहीं चाहते, तो फिर तुम्हारी युद्धमें प्रवृत्ति ही क्यों हुई ?

हम जिनके लिये राज्य, सुख और भोग चाहते हैं, वे सब-के-सब प्राणोंकी और धनकी आशाको छोड़कर मरनेके लिये खड़े हैं।

वे कौन हैं ?

आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर और साले हैं तथा और भी बहुत-से सम्बन्धी हैं।

ये सब-के-सब अगर तुमको मारनेके लिये उद्यत हो जायँ तो ?

ये भले ही मुझे मार डालें, पर मेरेको त्रिलोकीका राज्य मिल जाय तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। फिर पृथ्वीके राज्यके लिये तो कहना ही क्या है।

अरे भैया ! राज्य मिलनेपर तो बड़ी प्रसन्नता होती है, क्या तुम उसको भी नहीं चाहते ?

जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको (जो कि हमारे भी सम्बन्धी हैं) मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा।

तो तुम क्या करोगे ?

हम और कुछ भी कर सकते हैं, पर हम इन स्वजनोंको मारना नहीं चाहते; क्योंकि स्वजनोंको मारकर हम सुखी कैसे हो सकते हैं।

वे तो तुम्हें मारनेके लिये तैयार हैं, तुम ही क्यों पीछे हट रहे हो ?

महाराज ! इनमें तो लोभ आ गया है, इसलिये ये कुलके नाशसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देख रहे हैं।

ये नहीं देखते, तो तुम ही क्यों देख रहे हो ?

कुलके नाशसे होनेवाले दोषको जाननेवाले हमें तो कम-से-कम इस पापसे निवृत्त होना ही चाहिये, क्योंकि हम लोगोंपर ऐसा लोभ थोड़े ही सवार हुआ है ?

कुलके नाशसे क्या दोष होता है ?

कुलका नाश होनेपर सदासे चले आये कुलधर्म (कुल-परम्परा) नष्ट हो जाते हैं।

कुलधर्मके नष्ट होनेपर क्या होता है ?

कुलधर्मके नष्ट होनेपर कुलमें अधर्म फैल जाता है।

अधर्मके फैल जानेसे क्या होता है ?

अधर्मके फैल जानेसे कुलीन स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं।

स्त्रियोंके दूषित होनेसे क्या होता है ?

स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर पैदा होता है।

वर्णसंकर पैदा होनेसे क्या होता है ?

वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और सम्पूर्ण कुलको नरकोंमें ले जानेवाले होते हैं, तथा पिण्ड और पानी न मिलनेसे उनके पितरोंका भी पतन हो जाता है अर्थात् उनके पितर अपने स्थानसे गिर जाते हैं। उन वर्णसंकरको पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके कुलधर्म और जातिधर्म दोनों नष्ट हो जाते हैं।

कुलधर्म और जातिधर्मके नष्ट होनेपर क्या होता है ?

जनार्दन ! कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हुए मनुष्योंको अनियत समयतक नरकोंमें निवास करना पड़ता है—ऐसा हम सुनते आये हैं।

युद्धका ऐसा परिणाम होगा—इसको जब तुम पहलेसे ही ऐसा जानते हो तो फिर तुम युद्धके लिये तैयार ही क्यों हुए ?

यही तो बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि हमारेपर राज्यका लोभ छा गया, जिससे हम भी कुटुम्बियोंको मारनेके लिये तैयार हो गये !

अब तुम्हारा अन्तिम निर्णय क्या है ?

मैं अस्त्र-शस्त्र छोड़कर युद्धसे निवृत्त हो जाऊँगा। अगर अस्त्र-शस्त्रसे रहित मेरेको वे दुर्योधन आदि मार भी दें, तो भी मेरा कल्याण ही होगा।

इस निर्णयपर पहुँचनेपर अर्जुनने क्या किया संजय ?

संजय बोले—बाणसहित धनुषको छोड़कर अर्जुन शोकमग्न होकर रथके मध्य भागमें बैठ गये।

* * *

त्यागने योग्य

(एक संतका प्रसाद)

१–इन पाँच बातोंका त्याग ज्ञानी और भक्त सभी साधकोंको करना चाहिये—

१–व्यर्थ चिन्तन, २–व्यर्थ भाषण, ३–व्यर्थ दर्शन, ४–व्यर्थ श्रवण और ५–व्यर्थ भ्रमण ।

१–भगवान्‌के नामस्मरण, भगवान्‌की लीलाओंके स्मरण और भगवत्स्वरूपके स्मरणसे व्यर्थ चिन्तन दूर होता है ।

२–भगवद्‌गुणानुवाद और भगवन्नामकीर्तनसे व्यर्थ भाषण निवृत्त होता है ।

३–भगवन्मूर्ति, महात्मा और गुरुदेवका दर्शन करनेसे व्यर्थ दर्शन दूर होता है ।

४–भगवत्कथा-श्रवणसे व्यर्थ श्रवणकी निवृत्ति होती है ।

५–भगवत्सेवा और भक्तजनोंकी सेवा करनेसे व्यर्थ भ्रमण निवृत्त होता है ।

२–इन पाँच बातोंसे प्रेममें कमी आ जाती है—

१–बहुत ग्रन्थ पढ़ना, २–बहिर्मुख पुरुषोंकी बनायी पुस्तक पढ़ना, ३–बहिर्मुख पुरुषोंका संग करना, ४–किसी भी व्यक्तिमें अतिशय आसक्त होना, ५–उपदेशक बनना ।

३–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर और मद सर्वथा त्याज्य हैं, इनकी निवृत्तिके उपाय इस प्रकार हैं—काम उपासनासे, क्रोध सत्सङ्गसे, लोभ त्यागसे, मोह एकान्तवाससे, मत्सर किये हुए कर्मको ईश्वरार्पण करनेसे और मद भिक्षावृत्तिसे निवृत्त होता है ।

४–जो बाह्य त्याग अभिमानपूर्वक किया जाता है, वही 'दम्भ' कहा जा सकता है । निरभिमान रहकर किया हुआ बाह्य त्याग तो साधनरूप है । दम्भ बहुत दूरतक चलता है । इसकी गति अच्छे-अच्छे महात्माओंको भी नहीं जान पड़ती । अतः इससे बहुत सावधान रहना चाहिये ।

५–दूसरेके अवगुणोंको देखना, सुनना, कहना या चिन्तन करना—यही द्वेषका कारण है तथा इसीसे क्रोध भी आता है, अतः इसका त्याग करना चाहिये । इसका प्रधान साधन है—परचर्चाका त्याग । हमें दूसरोंके गुण और दोष—दोनोंपर ही दृष्टि नहीं देनी चाहिये । ये दोनों माया हैं, अतः इन्हें देखना ही दोष है और इनसे उदासीन रहना ही गुण है । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिय सो अबिबेक ॥

६–कामसे तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णाको ही लोभ कहते हैं और लोभसे ही इच्छा होती है तथा इच्छामें विघ्न पड़नेपर ही क्रोध होता है । अतः निरिच्छ व्यक्ति ही अक्रोधी हो सकता है ।

७–वाणी, नेत्र, हाथ और पैरोंकी चञ्चलता मूर्खताका लक्षण है, अतः इन चारों प्रकारकी चञ्चलताओंका त्याग करो । इनमेंसे एकका होना भी मूर्खताका चिह्न है, जिसमें चारों हों वह तो महामूर्ख है । संक्षेपमें इनका विवरण इस प्रकार है—

१–वाक्चाञ्चल्य—जोरसे बोलना, अधिक बोलना अथवा बिना प्रयोजन बोलना ।

२–नेत्रचाञ्चल्य—इधर-उधर या ऊपर-नीचे देखना ।

३–हस्तचाञ्चल्य—तिनका तोड़ना या पृथ्वीपर लिखना ।

४–पादचाञ्चल्य—पैर हिलाना अथवा बेढंगे चलना ।

८–साधनके प्रधानतया छः विघ्न हैं—१—अति भाषण, २—अति परिश्रम, ३—अतिभोजन, ४—संसारी नियमोंमें बँधना ५—दुष्टोंका सङ्ग और ६—लोभ । अधर्मसे कमाई करना भी लोभके ही अन्तर्गत है ।

९–क्रोधसे व्यक्तिका तप नष्ट हो जाता है । पर ऐसा करें ही क्यों; क्रोध करनेसे तप नष्ट होता है—यह जान लें ।

१०–अपने कर्मको छोड़कर दूसरेके कर्ममें लग जाना भी प्रमाद है । यह रजोगुणसे होता है । अतः रजोगुणीसे तो तमोगुणी ही अच्छा है । वह तो मूर्ख होता है, अतः सात्त्विक पुरुषपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । रजोगुणीके संगसे वृत्ति खराब हो जाती है । अतः उसका संग सर्वथा त्याज्य है ।

११–अनात्माका चिन्तन करना अथवा दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार करना या दूसरोंकी समालोचना करना ही राग-द्वेष है । जिस विषयका चिन्तन होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है । अतः किसीकी निन्दा या पापका चिन्तन नहीं करना चाहिये । (क्रमशः)

क्षमाका स्वरूप और उसका विवेचन

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

किसीके द्वारा तन, मन, बचन, धन, जन आदिसे अनुचित व्यवहार किये जानेपर भी उसे सह लेना तथा समर्थ होते हुए भी बदला लेनेका संकल्प न करना, यह क्षमाका स्वरूप है।

अनुचित व्यवहारसे मनुष्यको दुःख होता है, दुःख मनुष्यको सहज ही अप्रिय होनेसे असह्य होता है। अतः उसे किसी ठोस आधारके बिना सह लेना सम्भव नहीं। इसीलिये निन्दा आदिको सह लेनेके लिये ठोस आधार उपस्थित करके उसके लाभोंका वर्णन करते हुए महाभारतमें कहा है—

अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति।
दुष्कृतं चात्मनो मर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै॥
यदि वाग्भिः प्रयोगः स्यात् प्रयोगे पापकर्मणः।
वागेवार्थो भवेत्तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः॥

(शान्तिप० ११४। ३, ९)

'जो निन्दा करनेवालेपर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्यको प्राप्त कर लेता है। वह सहनशील पुरुष अपना सारा पाप क्रोधी पुरुषपर ही धो डालता है। यदि पापाचारी पुरुषके द्वारा कटुवचन बोलनेपर बदलेमें वैसे ही वचनोंका प्रयोग किया जाय तो उससे केवल कलहमात्र ही होगा। जो हिंसा करना चाहता है, उसको गाली देनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा।'

ऊपर लिखे अलौकिक लाभोंमें सुदृढ़ भावना जाग्रत् रहनेपर ही दुष्टोंद्वारा पहुँचायी गयी हानि, निन्दा तथा कष्ट सहन हो सकते हैं। अन्यथा हृदयसे चाहनेपर तथा हजार बार प्रतिज्ञा करनेपर भी निन्दा आदि सहन कर क्षमा न कर सकेंगे।

क्षमाके अधिकारी—'ब्राह्मणानां बलं क्षमा' अर्थात् ब्राह्मणों-(संतों-) का बल क्षमा ही है। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संत एकनाथजी जब चन्द्रभागामें स्नान करके निकले तो एक दुष्टने उनके ऊपर थूक दिया। एकनाथजीने उससे कुछ भी नहीं कहा, पुनः चन्द्रभागामें स्नान कर लिया। बाहर आनेपर फिर उसने थूक दिया, उन्होंने फिर स्नान कर लिया। इस प्रकार सौ बार दुष्टने थूका, संतने सौ बार स्नान कर लिया, परंतु उसे कुछ भी नहीं कहा। संतके इस महान् क्षमाबलसे दुष्ट परास्त होकर उनके चरणोंमें गिर पड़ा। इसी प्रकार विश्वामित्रजीके समस्त अस्त्र-शस्त्र-बलको वसिष्ठजीने अपने क्षमाबलसे परास्त कर दिया था। तब विश्वामित्रजीने कहा था कि क्षत्रिय-बलको धिक्कार है, ब्रह्मतेज ही बल है—

'धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।

(वा० रा० १। ५६। २३)

ऐसा अनुभव करके ही विश्वामित्रजीने ब्राह्मणत्व-प्राप्तिके लिये घोर तप किया था।

एकनाथजी तथा वसिष्ठजी-जैसी सामर्थ्य सबमें नहीं हो सकती। अतः असमर्थ पुरुष तो यदि वहाँसे हटकर या अन्य किसी प्रकारसे अपनी रक्षा कर ले, दुष्टसे कुछ न कहे तो उसके लिये यही क्षमा कहलायेगी।

शत्रुने अपने देशपर आक्रमण कर दिया हो, देशवासियोंके धन-धर्मका हरण कर रहा हो, देशका कुछ भाग अधिकारमें कर लिया हो, उसे यदि राजा चुपचाप सहन कर ले, शत्रुसे बदला न ले तो यह राजाके अधिकारके अनुरूप न होनेसे क्षमा न कहलायेगी, किंतु इसे तो कायरता ही कहा जायगा। गोस्वामी तुलसीदासने लिखा है—

'रिपु पर कृपा परम कदराई।'

※

हाँ, यदि शत्रु अस्त्र-शस्त्रहीन हो जाय, भागने लग जाय, या शरणागत हो जाय, ऐसी दशामें समर्थ होते हुए भी उसे न मारना, अभयदान देना—यही राजाके लिये क्षमा कहलायेगी। इसी प्रकार जिन माता-पिता, पत्नी-बच्चोंकी रक्षाका भार जिसपर है, समर्थ होते हुए उनकी दुष्टोंसे रक्षा न करना, क्षमा नहीं 'किंतु कायरता ही होगी। अतः कहाँ, किसे, किस प्रकार क्षमा करनी चाहिये' यह भी ध्यान रखनेकी बात है।'

क्षमाके पात्र-अपात्र—केवल अपने प्रति किये गये अन्यायको सह लेना अन्यायीको दण्ड देने-दिलानेका सङ्कल्प भी न करना, ऐसी क्षमाका उद्देश्य जब केवल अपने हृदयकी शान्तिमात्र होता है, तब क्षमाका कौन पात्र है, कौन अपात्र है, इस बातपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती; किंतु जब किसीकी रक्षाका उत्तरदायित्व या अन्यायीके सुधारका भार जिसपर होता है, तब उसको क्षमाका कौन पात्र है, कौन अपात्र है, इसपर विचार करनेकी भी परम आवश्यकता होती है। नहीं तो रक्षणीयकी रक्षा नहीं हो पाती तथा अन्यायीका सुधार भी नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, किंतु अन्यायी क्षमा करनेवालेको असमर्थ समझकर और अधिक अन्याय करता है, जिससे उसका सुधार न होकर बिगाड़ ही होता है। इसीलिये वाल्मीकि रामायणमें कहा है—

प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता॥
असामर्थ्यफला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः।
(वा० रा० ६। २१। १४-१५)

क्षमा, शम, नम्रता तथा प्रियवादिता आदि संतोंके गुणोंका प्रयोग यदि गुणहीन अभिमानी दुष्ट पुरुषोंके प्रति किया जाता है तो वे दुष्ट संतको असमर्थ ही समझते हैं।

सदा क्षमासे हानि—इसीलिये जो नित्य क्षमा करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं। नौकर उसका तिरस्कार करते हैं और शत्रु उदासीन हो जाते हैं। कोई भी उसके सामने नहीं झुकता। इसलिये तात! पण्डितोंने सदा क्षमा करना अच्छा नहीं माना। ऐसा महाभारतके वनपर्वमें कहा है—

यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः॥
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता॥
(२८। ७-८)

सदा अक्षमासे हानि—एवं सदा क्षमा न करनेसे होनेवाली हानिका वर्णन भी महाभारतमें इस प्रकार किया है—'रजोगुणसे व्याप्त क्रोधी मनुष्य अपने तेजसे अवसर-अनवसरका विचार न करके नाना प्रकारके दण्ड देता है। उसका मित्रोंके साथ विरोध हो जाता है तथा लोगोंसे और स्वजनोंसे भी द्वेष हो जाता है। इसलिये सदा अतिक्रोध (अक्षमा) न करे तथा सदा अति मृदु (क्षमा) भी न करे। समयानुसार मृदु अथवा तीक्ष्ण होना चाहिये—

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा॥
मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसाऽऽवृतः।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा॥
तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत्।
काले काले तु सम्प्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत्॥
(वनपर्व २८। १७-१८, २३)

क्षमा-अक्षमा (क्रोध) के विषयमें ऊपर लिखी संक्षिप्त बातोंका विस्तारसे विवेचन महाभारतके वनपर्व अध्याय २८ में तथा शान्तिपर्वके अध्याय ११४में किया गया है। जिज्ञासु जन उन्हें अवश्य पढ़ें।

गीताका कर्मयोग—७०

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[वर्ष ५८, अङ्क-संख्या १२, पृष्ठ-संख्या ९३४से आगे]

सम्बन्ध—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी शास्त्रीय प्रणालीका वर्णन करके अब भगवान् अगले तीन (पैंतीसवें, छत्तीसवें और सैंतीसवें) श्लोकोंमें तत्त्वज्ञानका वास्तविक माहात्म्य बतलाते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

भावार्थ—जब तत्त्वज्ञान अर्थात् स्वरूपका ठीक-ठीक अनुभव (बोध) हो जायगा, तब तुझे पुनः मोह नहीं होगा । अभिप्राय यह है कि युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंकी मृत्युको लेकर तुझे जो चिन्ता-शोक हो रहे हैं—ऐसा मोह तत्त्वज्ञान होनेपर मिट जायगा और फिर तुझे कभी इस प्रकारका मोह नहीं होगा ।

अर्जुन ! स्वरूपका बोध होनेपर पहले तुझे 'त्वम्' पदका अर्थात् स्वरूपके अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार-का अनुभव होगा और फिर 'तत्' पदका अर्थात् मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माके अन्तर्गत स्वरूपका तथा संसारका अनुभव होगा । तात्पर्य यह कि अहंकी गन्ध भी नहीं रहेगी । केवल एक ब्रह्म ही शेष रह जायगा । उसके सिवा किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहेगी ।

अन्वय—**यत्, ज्ञात्वा, एवम्, मोहम्, न, यास्यसि, पाण्डव, येन, भूतानि, अशेषेण, आत्मनि, (द्रक्ष्यसि), अथो, मयि, द्रक्ष्यसि ॥ ३५ ॥**

पद-व्याख्या—**यत् ज्ञात्वा पुनः एवम् मोहम् न यास्यसि**—जिस (तत्त्वज्ञान) का अनुभव करनेके बाद फिर (तू) इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा ।

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि वे महापुरुष तुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे; परंतु उपदेश सुननेमात्रसे काम नहीं चलता । जब उपदेशके अनुसार स्वरूपका यथार्थ अनुभव हो जायगा, तब तुझे फिर कभी मोह नहीं होगा । कारण, जड़तासे सम्बन्ध माननेके कारण ही मोह उत्पन्न होता है और जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जब स्वरूपका अनुभव हो जाता है, तब मोह सदाके लिये मिट जाता है ।

गीताके पहले अध्यायमें अर्जुनका मोह प्रकट होता है कि युद्धमें सभी कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी लोग मर जायँगे तो उन्हें पिण्ड और जल देनेवाला कौन होगा ? पिण्ड और जल न देनेसे वे नरकोंमें गिर जायँगे । जो जीवित रह जायँगे, उन स्त्रियों और बच्चोंका निर्वाह और पालन कैसे होगा ? आदि-आदि । तत्त्वज्ञान होनेके बाद ऐसा मोह नहीं रहता । बोध होनेपर जब संसारसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध नहीं रहता, तब पुनः मोह होनेका प्रश्न ही नहीं रहता ।

पाण्डव—(और) हे अर्जुन !

येन भूतानि अशेषेण आत्मनि (द्रक्ष्यसि)—जिस (तत्त्वज्ञान)से सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको निःशेष-भावसे (पहले) अपनेमें देखेगा ।

तत्त्वज्ञान होते ही ऐसा अनुभव होता है कि मेरी सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण है और उस सत्ताके अन्तर्गत ही अनन्त ब्रह्माण्ड हैं । जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकी सृष्टिको अपनेमें ही देखता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर मनुष्य सम्पूर्ण भूत-प्राणियों (जगत्)को अपनेमें ही देखता है । छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें आये हुए

'सर्वभूतानि चात्मनि' पदोंसे भी इसी स्थितिका वर्णन किया गया है।

अथो मयि द्रक्ष्यसि—(और) उसके बाद मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें (सबको) देखेगा।

तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी जो शास्त्रीय प्रक्रिया है, उसीके अनुसार भगवान् कह रहे हैं कि गुरुसे विधिपूर्वक (श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक) तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेपर साधक पहले अपने स्वरूपमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है—यह **'त्वम्'** पदका अनुभव हुआ, फिर वह स्वरूपको तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखता है—यह **'तत्'** पदका अनुभव हुआ। इस प्रकार उसे पहले **'त्वम्'** (स्वरूप)का और फिर **'तत्'** (परमात्मतत्त्व) के साथ **'त्वम्'** की एकताका अनुभव हो जाता है। एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म शेष रह जाता है। ऐसी अवस्थामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये तीनों ही नहीं रहते; परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें उसके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें जो भाव दीखता है, उसे लेकर ही भगवान् कहते हैं कि वह सबको मुझमें देखता है।

स्थूल दृष्टिसे समुद्र और लहरोंमें भिन्नता दीखती है। लहरें समुद्रमें ही उठती और लीन होती रहती हैं। परंतु सूक्ष्म दृष्टिसे समुद्र और लहरोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता केवल एक जलतत्त्वकी ही है। जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न लहरें। पृथ्वीसे सम्बन्ध होनेके कारण समुद्र भी सीमित है और लहरें भी; परंतु जल-तत्त्व सीमित नहीं है। अतएव समुद्र और लहरोंको न देखकर एक जल-तत्त्वको देखना ही यथार्थ दृष्टि है। इसी प्रकार संसाररूप समुद्र और शरीररूप लहरोंमें भिन्नता दीखती है। शरीर संसारमें ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं; परंतु वास्तवमें संसार और शरीर-समुदायकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी ही है। परमात्मतत्त्वमें न संसार है, न शरीर। प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण संसार भी सीमित है और शरीर भी; परंतु परमात्मतत्त्व सीमित नहीं है, अतएव संसार और शरीरोंको न देखकर एक परमात्मतत्त्वको देखना ही यथार्थ दृष्टि है।*

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

भावार्थ—प्रायः पापी मनुष्योंका लक्ष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेका नहीं होता, परंतु यदि किसी सत्सङ्ग, घटना, परिस्थिति आदिके प्रभावसे सम्पूर्ण पापियोंसे बढ़कर पापी मनुष्यका भी यह निश्चय हो जाय कि अब तत्त्वज्ञान-को प्राप्त करना ही है तो वह भी ज्ञानरूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर सकता है; कारण, तत्त्वज्ञान होनेपर तत्काल जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्पूर्ण पाप जड़तासे सम्बन्ध होनेपर ही होते हैं। इसलिये जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसके किंचित् भी पाप नहीं रह जाते।

ज्ञान वास्तवमें संसारका होता है, स्वरूपका नहीं। स्वरूप अर्थात् अपने होनेपनमें कभी किसीको संदेह नहीं होता; परंतु स्वरूपके साथ संसार(शरीर) का सम्बन्ध मान लेनेसे अज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह अज्ञान मिटते ही शरीरसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और ज्ञानात्मक स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

अन्वय—चेत्, सर्वेभ्यः, पापेभ्यः, अपि, पापकृत्तमः, असि, ज्ञानप्लवेन, एव, सर्वम्, वृजिनम्, संतरिष्यसि॥३६॥

पद-व्याख्या—**चेत् सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि पापकृत्तमः असि**—यदि (तू) सब पापियोंसे भी अत्यन्त पापी है—

* समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ (गीता १३। २७)

पाप करनेवालोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—(१) 'पापकृत्' अर्थात् पाप करनेवाला, (२) 'पापकृत्तर' अर्थात् दो पापियोंमें एकसे अधिक पाप करनेवाला और (३) 'पापकृत्तम' अर्थात् सम्पूर्ण पापियोंमें सबसे अधिक पाप करनेवाला । यहाँ **'पापकृत्तमः'** पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि यदि तू सम्पूर्ण पापियोंमें भी अत्यन्त पाप करनेवाला है तो भी तत्त्व-ज्ञानसे सम्पूर्ण पापोंसे तर सकता है ।

भगवान्का यह कथन बहुत आश्वासन देनेवाला है । तात्पर्य यह है कि जो पापोंका त्याग करके साधनमें लगा हुआ है, उसका तो कहना ही क्या है ! पर जिसने पहले बहुत पाप किये हों, उसे भी जिज्ञासा जाग्रत् होनेके बाद अपने उद्धारके विषयमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; कारण, पापी-से-पापी मनुष्य भी यदि चाहे तो इसी जन्ममें अभी अपना कल्याण कर सकता है । पुराने पाप उतने बाधक नहीं होते, जितने वर्तमानके पाप बाधक होते हैं । यदि मनुष्य वर्तमानमें पाप करना छोड़ दे और निश्चय कर ले कि अब मैं कभी पाप नहीं करूँगा और केवल तत्त्वज्ञानको प्राप्त करूँगा तो उसके पापोंका नाश होते देर नहीं लगती ।

यदि कहीं सौ वर्षोंसे घना अँधेरा छाया हो और वहाँ दीपक जला दिया जाय तो उस अँधेरेको दूर करके प्रकाश करनेमें दीपकको सौ वर्ष नहीं लगते, अपितु दीपक जलाते ही तत्काल अँधेरा मिट जाता है । इसी प्रकार तत्त्वज्ञान होते ही पहले किये गये सम्पूर्ण पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ।

'चेत्' (यदि) पद देनेका तात्पर्य यह है कि प्रायः ऐसे पापी मनुष्य परमात्मामें नहीं लगते; परंतु वे परमात्मामें लग नहीं सकते—ऐसी बात नहीं है । किसी महापुरुषके संगसे अथवा किसी घटना, परिस्थिति वातावरण आदिके प्रभावसे यदि उसका ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय कि अब परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना ही है तो वह भी सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जाता है ।

नवें अध्यायके तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें भी भगवान्ने ऐसी ही बात अनन्यभावसे अपना भजन करनेवाले भक्तके विषयमें कही है कि महान् दुराचारी मनुष्य भी यदि यह निश्चय कर ले कि अब मैं भगवान्का भजन ही करूँगा तो उसका भी बहुत शीघ्र कल्याण हो जाता है* ।

ज्ञानप्लवेन एव सर्वम् वृजिनम् संतरिष्यसि—(तो तू भी) ज्ञानरूप नौकाके द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ।

प्रकृतिके कार्य शरीर और संसारके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण पाप होते हैं । तत्त्वज्ञान होनेपर जब इनसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब पाप कैसे रह सकते हैं—**'मूलाभावे कुतः शाखा ?'**

परमात्माके स्वतः सिद्ध ज्ञानके साथ एक होना ही **'ज्ञानप्लव'** अर्थात् ज्ञानरूप नौकाका प्राप्त होना है । मनुष्य कितना ही पापी क्यों न रहा हो, ज्ञानरूप नौकासे वह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जाता है । यह ज्ञानरूप नौका कभी टूटती-फूटती नहीं, इसमें कभी छिद्र नहीं होता और यह कभी डूबती भी नहीं । यह मनुष्यको पापसमुद्रसे पार करा देती है ।

'ज्ञानयज्ञ'-(४ । ३३)से ही यह ज्ञानरूप नौका प्राप्त होती है । यह ज्ञानयज्ञ आरम्भसे ही 'विवेक'को लेकर चलता है और 'तत्त्वज्ञान'में इसकी पूर्णता हो जाती है । तत्त्वज्ञानकी पूर्णता होनेपर लेशमात्र भी पाप नहीं रहता ।

(क्रमशः)

* अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

गङ्गाजल अमृत-तुल्य है

(लेखक--डॉ० श्रीविष्णुप्रकाशजी मिश्र, 'प्रशान्त', एम्० एस्-सी०)

भगवती मा श्रीगङ्गाका परमपावन जल अमृत-तुल्य होता है। भारतके धर्म-ग्रन्थ इनकी स्तुतिसे भरे पड़े हैं। स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें गङ्गाकी स्तुति करते हुए उन्हें स्थावर एवं जंगम विषका नाश करनेवाली, जीवनरूपा, त्रितापसंहारिणी और प्राणेशी कहकर अभिनन्दित किया गया है—

संसारविषनाशिन्यै जीवनायै नमोऽस्तु ते।
तापत्रितयसंहन्त्र्यै प्राणेश्यै ते नमो नमः॥
(पू० २७। १६०)

विश्वमें केवल अमृतमय गङ्गाजल ही एकमात्र ऐसा जल है, जो वर्षोंतक रखे रहनेपर भी विकृत नहीं होता। अन्य सभी सरिताओंका जल कुछ ही समयमें खराब और दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। यही कारण है कि पावन गङ्गा-जलको समस्त रोगोंकी श्रेष्ठ दवा बताया गया है—

सर्वस्य सर्वव्याधीनां भिषक्श्रेष्ठ्यै नमोऽस्तु ते।

हमारे धर्मग्रन्थ जिस अमृत-तुल्य गङ्गाजलके प्रतापको हजारों-लाखों वर्षोंसे गाते रहे हैं, उसे बीसवीं सदीके विज्ञानने भी पुष्ट कर दिया है। गङ्गाजलमें स्नान करनेसे गलित कुष्ठ-जैसे विषम रोग भी शान्त हो जाते हैं। हजारों वर्षोंसे तपेदिक (टी० बी०), कुष्ठ (कोढ़) तथा अन्य जीवाणुजन्य रोगोंके रोगी गङ्गाजलका सेवन कर रोगमुक्त होते आ रहे हैं। क्या है, ऐसा गङ्गाजलमें ? क्यों वर्षोंतक रखे रहनेपर भी यह सड़ता नहीं और क्यों इसके सेवन तथा स्नान करनेसे रोगी ठीक हो जाते हैं ? इसपर स्वदेशी और पाश्चात्त्य देशोंके वैज्ञानिक सैकड़ों वर्षोंके शोधके बाद इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि गङ्गाजलको **'नमो भेषजमूर्तये'** कहनेवाले अपने मतमें सर्वथा ठीक हैं।

गङ्गाजलपर वैज्ञानिक अनुसंधानोंके परिणाम

गङ्गाजल रोगोंको कैसे दूर करता है तथा वर्षों रखनेपर भी स्वयं क्यों खराब नहीं होता, इसपर खोजकर्ताओंने निम्न आश्चर्यजनक तथ्य उद्घोषित किये हैं। पाश्चात्त्य विज्ञानशास्त्री 'रस्का'द्वारा इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शीके निर्माणके बाद अत्याधुनिक शोधके अनुसार गङ्गाजलके करोड़ों बैक्टीरियोफेज (बैक्टीरियो रोगके बैक्टीरिया, फेज=खानेवाले) पाये जाते हैं। बैक्टीरियोफेज रोगोंके जीवाणुओं (सामान्य भाषामें कीटाणुओं)को खाते हैं। यह एक ऐसा जीवन-रक्षक है, जो देखनेमें बहुत छोटा (१ सेन्टीमीटरका १ । १०,०००वाँ भाग) होता है तथा प्रोटीनके आवरणसे ढका रहता है। इसकी अनोखी विशेषता होती है कि यह गङ्गाजलमें निरन्तर उपस्थित रहता है और भूखा होनेपर भी हजारों-लाखों वर्ष जीवित रह सकता है। जब भी जलमें कोई बैक्टीरिया (कीटाणु) बीमारी देने अथवा जलको सड़ानेवाला आ जाता है तो यह बैक्टीरियोफेज इकट्ठे होकर उसपर टूट पड़ते हैं एवं उसे समाप्त कर देते हैं। कोई भी रोगी यदि गङ्गाजलका सेवन करता है तो ये विशेष जीवन-रक्षक तत्त्व उसके शरीरमें पहुँचकर रोगोंके जीवाणुओंको नष्ट करते हैं और रोग शनैः-शनैः समाप्त होने लगता है।

कहाँसे आते हैं ये जीवाणुभोजी बैक्टीरियोफेज, यह अभीतक विदित नहीं हो सका है; परंतु जहाँसे भागीरथी गङ्गाका उद्गम है और जहाँ इनका सागरमें विलय होता है—ये सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। गङ्गाजलको उबालनेसे यह पदार्थ निष्क्रिय हो जाते हैं, अतः इसे

उबालना नहीं चाहिये । भारतीय संस्कृतिमें गङ्गाजल न उबालनेकी मान्यता है । गङ्गामैया भारतवासियोंके लिये वरदानस्वरूपा हैं । गङ्गामैया ब्रह्मरूपिणी, विष्णु-रूपिणी तथा रुद्ररूपिणी हैं । इसलिये मेरा गङ्गा-मैयाको कोटिशः प्रणाम ।

'ॐ नमो गङ्गायै विश्वरूपिण्यै नारायण्यै नमो नमः ।'

भक्त-गाथा

भक्त विमलतीर्थ

पण्डित विमलतीर्थ नैष्ठिक ब्राह्मण थे । बड़ा सदाचारी पवित्र कुल था इनका । त्रिकाल संध्या, अग्निहोत्र, वेदका स्वाध्याय, तत्त्वविचार आदि इनके कुलमें सबके लिये मानो स्वाभाविक कर्म थे । सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, नम्रता, अस्तेय, अपरिग्रह और संतोष आदि गुण इस कुलमें पैतृक सम्पत्तिके रूपमें सबको मिलते थे । इतना सब होनेपर भी भगवान्‌के प्रति भक्तिका भाव जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं देखा जाता । पण्डित विमलतीर्थ इस कुलके एक अनुपम रत्न थे । इनकी माताका देहान्त बचपनमें ही हो गया था । ननिहालमें बालकोंका अभाव था, अतः यह पहलेसे ही अधिकांश समय नानीके पास रहते थे । माताके मरनेपर तो नानीने इनको छोड़ना ही नहीं चाहा, ये वहीं रहे । इनके नाना पण्डित निरञ्जनजी भी बड़े विद्वान् और महाशय थे । उनसे इनको सदाचारकी शिक्षा मिलती थी तथा गाँवके ही एक सुनिपुण अध्यापक इन्हें पढ़ाते थे । इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी । कुलपरम्पराकी पवित्र विद्याभिरुचि इनमें थी ही, अतएव इनको पढ़ानेमें अध्यापक महोदयको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था । ये ग्रन्थोंको ऐसे सहज ही पढ़ लेते थे जैसे कोई पहले पढ़े हुए पाठको याद कर लेता हो । यज्ञोपवीत नानाजीने करवा ही दिया था, इसलिये ये त्रिकाल संध्या करते थे । नित्य प्रातःकाल बड़ोंको प्रणाम करते, उनकी श्रेष्ठ आज्ञाओंका कुतर्कशून्य बुद्धिसे परंतु समझकर भलीभाँति पालन करते और सहज ही सबके स्नेहभाजन बने हुए थे ।

विमलजीकी नानी सुनन्दादेवी परम भक्तिमती थी । उसने अपने पतिकी परमेश्वरभावसे सेवा करनेके साथ ही परम पति (पतिके भी पति) भगवान्‌की सेवामें अपने जीवनको लगा रखा था । भगवान्‌पर और उनके मङ्गल-विधानपर उसका अटल विश्वास था और इसलिये वह प्रत्येक स्थितिमें नित्य प्रसन्न रहा करती थी । इस प्रकारकी गुणवती पत्नीको पाकर पण्डित निरञ्जनजी भी अपनेको धन्य मानते थे । नन्दादेवी घरका सारा काम बड़ी दक्षता तथा सावधानीके साथ करती, परंतु इसमें उसका भाव यही रहता कि यह घर भगवान्‌का है, मुझे इसकी सेवाका भार सौंपा गया है । जबतक मेरे जिम्मे यह कार्य है, तबतक मुझे इसको सुचारुरूपसे करना है । इस प्रकार समझकर वह समस्त कार्य करती, परंतु घरमें, घरकी वस्तुओंमें, कार्यमें तथा कार्यके फलमें न उसकी आसक्ति थी, न ममता । उसकी सारी आसक्ति और ममता अपने प्रभु भगवान् नारायणमें केन्द्रित हो गयी थी । इसलिये वह जो कुछ भी करती, सब अपने प्रभु श्रीनारायणकी प्रीतिके लिये, उन्हींका काम समझकर करती, इससे काम करनेमें भी उसे विशेष सुख मिलता था । शुद्ध कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेवाले कर्ममें भी सुख है, परंतु उसमें वह सुख नहीं है जो अपने प्राणप्रिय प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले कर्ममें होता है । उसमें रूपवान् तो कभी होता ही नहीं, एक विशेष प्रकारके रसकी अनुभूति होती है जो प्रेमीको पद-पदपर उल्लसित और उत्फुल्ल करती रहती है और वह नित्य-नूतन उत्साहसे सहज ही प्राणोंको न्योछावर करके प्रभुका कार्य करता रहता है; परंतु इस प्रकारके कार्यमें जो उसे अप्रतिम रसानुभूति मिलती है उसका कारण कर्म या उसका कोई फल नहीं है, उसका कारण है प्रभुमें केन्द्रित आसक्ति और ममत्व । प्रभु उस कार्यसे प्रसन्न न हों और किसी दूसरे कार्यमें लगाना चाहें तो उसे उस पहले कार्यको छोड़कर दूसरेके करनेमें वही आनन्द प्राप्त होगा जो पहलेको करनेमें होता था । सुनन्दाका इसी भावसे घरवालोंके साथ सम्बन्ध था और इसी भावसे वह घरका सारा कार्य सँभालती थी । आज मातृहीन विमलको भी सुनन्दा इसी भावसे हृदयकी सार

स्नेह-सुधाको उँडेलकर प्यार करती और पालती-पोसती है कि वह प्रियतम प्रभु भगवान्‌के द्वारा सौंपा हुआ सेवाका पात्र है। उसमें नानीका बड़ा ममत्व था, पर वह इसलिये नहीं था कि विमल उसकी कन्याका लड़का है, वरं इसलिये था कि वह भगवान्‌के बगीचेका एक सुन्दर सुमधुर फलवृक्ष है, जो सेवा-सँभालके लिये उसे सौंपा गया है। नानीके पवित्र और विशद स्नेहका विमलपर बड़ा प्रभाव पड़ा और विमलकी मति भी क्रमशः नानीकी सुमतिकी भाँति ही उत्तरोत्तर विमल होती गयी। उसमें भगवत्परायणता, भगवद्विश्वास, भगवद्भक्ति और शुभ भगवदीय कर्मके मधुर तथा निर्मल भाव जाग्रत् हो गये। वह नानीकी भगवद्विग्रहकी सेवाको देख-देखकर मुग्ध होता, उसके मनमें भी भगवत्सेवाकी भावना जागती। अन्तमें उसके सच्चे तथा तीव्र मनोरथको देखकर भगवान्‌की प्रेरणासे नानीने उसके लिये भी एक सुन्दर भगवान् नारायणकी प्रतिमा मँगवा दी और नानीके उपदेशानुसार बालक विमल बड़े भक्तिभावसे भगवान्‌की पूजा करने लगा।

विमलतीर्थजीके विमल वंशमें सभी कुछ विमल तथा पवित्र था। भगवद्भक्तिकी कुछ कमी थी, वह यों पूरी हो गयी। कर्मकाण्ड, विद्या तथा तत्त्व-विचारके साथ जिसमें नम्रता किंवा विनय होती है, वह अन्तमें विद्या तथा तत्त्वके परम फल श्रीभगवान्‌की भक्तिको अवश्य प्राप्त करता है; परंतु जहाँ कर्मकाण्ड, विद्या एवं तत्त्व-विचार अभिमान तथा घमण्ड पैदा करनेवाले होते हैं वहाँ परिणाममें पतन होता है। वस्तुतः जो कर्म, जो विद्या और जो विचार भगवान्‌की ओर न ले जाकर अभिमानके मलसे अन्तःकरणको दूषित कर देते हैं, वे तो कुकर्म, अविद्या और अविचाररूप ही हैं। विमलतीर्थके कुलमें कर्म, विद्या और तत्त्वविचारके साथ सहज नम्रता थी—विनय थी और उसका फल भगवान्‌में रुचि तथा रति उत्पन्न होना अनिवार्य था। सत्कर्मका फल शुभ ही होता है और परम शुभ तो भगवद्भक्ति ही है। नानी सुनन्दाके सङ्गसे विमलतीर्थकी विमल कुलपरम्पराके पवित्र फलका प्रादुर्भाव हो गया! नाना-नानीने बड़े उत्साहसे पवित्र कुलकी साधुस्वभावा सुनयनादेवीके साथ विमलतीर्थका विवाह पवित्र वैदिक विधानके अनुसार कर दिया। सुलक्षणवती बहू घरमें आ गयी। वृद्धा सुनन्दाके शरीरकी शक्ति क्षीण हो चली थी, अतएव घरके कार्यका तथा नानीजीके ठाकुरकी पूजाका भार सुनयनाने अपने ऊपर ले लिया। वृद्धा अब अपना सारा समय भगवत्-स्मरणमें लगाया करती थी। कुछ समयके बाद वृद्ध दम्पतिकी भगवान्‌का स्मरण करते-करते बिना किसी बीमारीके सहज ही मृत्यु हो गयी। विमल और सुनयना यों तो नाना-नानीकी सेवा सदा-सर्वदा करते ही थे, परंतु पुण्यपुञ्ज दम्पतिने बीमार होकर उनसे सेवा नहीं ली। अब विमलतीर्थ ही इस घरके स्वामी हुए। पति-पत्नीमें बड़ा प्रेम था। दोनोंके बहुत पवित्र आचार थे। दोनों ही भक्तिपरायण थे। विमल अपने भगवान्‌की पूजा नियमित रूपसे प्रेमपूर्वक करते थे और सुनयनादेवी नानी सुनन्दाके दिये हुए भगवान्‌की पूजा करती थी। यों पति-पत्नीके अलग-अलग ठाकुरजी थे। पर ठाकुर-सेवामें दोनोंको बड़ा आनन्द आता था। दोनों ही मानो होड़-सी लगाकर अपने-अपने भगवान्‌को सुख पहुँचानेमें संलग्न रहते थे। दोनोंमें ही विद्या थी, श्रद्धा थी और सात्त्विक सेवा-भाव था।

विमलतीर्थके तीन बड़े भाई थे। वे भी बहुत अच्छे स्वभावके तथा शुभ कर्म-परायण थे। छोटे भाई विमल अब एक प्रकारसे उन लोगोंके मामाके स्थानापन्न थे। चारोंमें परस्पर बड़ी प्रीति और स्नेह-सौहार्द था। प्रीतिका नाश तो स्वार्थमें होता है, इनका स्वार्थ विचित्र ढंगका था। ये परस्पर एक-दूसरेका विशेष हित करने, सुख पहुँचाने और सेवा करनेमें ही अपना स्वार्थ समझते थे। त्याग तो मानो इनकी स्वाभाविक सम्पत्ति थी। जहाँ त्याग होता है, वहाँ प्रेम रहता ही है और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ आनन्दको रहने, बढ़ने तथा फूलने-फलनेके लिये पर्याप्त अवकाश मिलता है। दोनों परिवार इसीलिये आनन्दपूर्ण थे। नामके ही दो थे, वस्तुतः कार्यरूपमें एक ही थे।

विमलतीर्थजीके मनमें वैराग्य तो था ही। धीरे-धीरे उसमें वृद्धि होने लगी। भगवान्‌की कृपासे उनकी धर्मपत्नी इसमें सहायक हुई। दोनोंमें मानो वैराग्य तथा भक्तिकी होड़ लगी थी। ऐसी सात्त्विक ईर्ष्या भगवत्कृपासे ही होती है। इस ईर्ष्यामें एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी चेष्टा तो होती है, परंतु गिरानेकी या रोकनेकी नहीं होती; बल्कि परस्पर एक-दूसरेकी सहायता करनेमें ही प्रसन्नता होती है। शक्ति गिरानेमें नहीं, बढ़ने और बढ़ानेमें लगती है। यही शक्तिका सदुपयोग है।

आखिर उपरति बढ़ी, दोनों भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहने लगे। एक दिन भगवान्‌ने कृपा करके सुनयनादेवीको दर्शन दिये और उसी दिन भगवदाज्ञासे वे शरीर छोड़कर भगवान्‌के परमधाममें चली गयीं। विमलतीर्थजीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। होड़में पत्नीकी विजय हुई। उसने भगवान्‌का साक्षात्कार पहले किया। विमलतीर्थजीके लिये यह बड़े ही आनन्दका प्रसङ्ग था। इस सात्त्विक होड़में हारनेवालेको जीतनेवालेकी जीतपर जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होती है, जगत्‌के स्वार्थी मनुष्य उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। अस्तु!

अब विमलतीर्थ साधनामें सर्वथा लग गये। वे वनमें जाकर एकान्तमें रहने लगे और अपनी सारी विद्या-बुद्धिको भूलकर निरन्तर भगवान् श्रीनारायणके मङ्गलमय ध्यानमें ही रत रहने लगे। धीरे-धीरे भगवान्‌के दिव्य दर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ी और एक दिन तो वह इतनी बढ़ गयी कि अब क्षणभरका विलम्ब भी असह्य हो गया। जैसे अत्यन्त पिपासासे व्याकुल होकर मनुष्य जलकी बूँदके लिये छटपटाता है और एक क्षणकी देर भी सहन नहीं कर सकता, वैसी दशा जब भगवान्‌के दर्शनके लिये भक्तकी हो जाती है, तब भगवान्‌को भी एक क्षणका विलम्ब असह्य हो जाता है और वे अपने सारे ऐश्वर्य-वैभवको भुलाकर उस नगण्य मानवके सामने प्रकट होकर उसे कृतार्थ करते हैं। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीनारायण विमलतीर्थको कृतार्थ करनेके लिये उनके सामने प्रकट हो गये। वे चकित होकर निर्निमेष नेत्रोंसे उस विलक्षण रूपमाधुरीको देखते ही रह गये। बड़ी देरके बाद उनमें हिलने-डोलने तथा बोलनेकी शक्ति आयी, तब तो आनन्दमुग्ध होकर वे भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये और प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण-पद्मोंको पखारने लगे। भगवान्‌ने उठाकर बड़े स्नेहसे उनको हृदयसे लगा लिया और अपनी अनुपम अनन्य भक्तिका दान देकर सदाके लिये पावन बना दिया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

लाँड़

(स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

जसुमति लालहिं लाड़ लड़ावै।
निरखि-निरखि मधु-मूरति सिसुकी हियमें फूली नाहिं समावै॥
कबहुँ उछंग, कबहुँ पलनामें चूमि-चूमि हितसों पौढ़ावै।
मेरे लाल नीलमणि कहि-कहि, हुलसि-हुलसि पुनि-पुनि बलि जावै॥ १॥
किलकत लाल, हँसति मैया हूँ, दोउको अँग-अँग हुलसावै।
'काना बाती कुर्र-कुर्र' कहि, गुदगुदाय लालनहिं हँसावै॥ २॥
भूली घरके काम-काज सब, सिसु-सनेह नहिं हिएँ समावै।
गाय-गाय गुनगन लालनके हिय उमहावै, सिसुहिं ललावै॥ ३॥
बेर भई अलसाओ लालन, पलनामें पौढ़ाय सुवावै।
'आ जा री! नींदरिया तोकों लाल बुलावै' कहि हलरावै॥ ४॥
यह बड़भाग्य नन्दरानीको कैसे करि कोउ कवि कहि पावै।
सुर-मुनि जाको पार न पावहिं वाहि हुलसि यह कण्ठ लगावै॥ ५॥

अमृत-बिन्दु

भोग दो वस्तुओं आदिके संयोगसे होता है और योग (परमात्मासे नित्य-सम्बन्ध) अकेला, स्वतःसिद्ध होता है। जबतक भोग है, तबतक योगका अनुभव नहीं होता। भोगका सर्वथा त्याग होनेपर ही योगका अनुभव होता है और योगका अनुभव होनेपर भोगकी इच्छा सर्वथा मिट जाती है।

* * * *

संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो; कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं।

* * * *

असत्‌को असत् जाननेपर भी जबतक असत्‌का आकर्षण नहीं मिट जाता, तबतक सत्‌की प्राप्ति नहीं होती (जैसे सिनेमाको असत्य जाननेपर भी उसका आकर्षण रहता है)।

* * * *

वास्तवमें अनुकूलतासे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दुःखी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दुःखसे बच ही नहीं सकता।

* * * *

यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ प्रभुका विधान है कि अपने पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह अपने किसी-न-किसी पापका ही फल होता है।

* * * *

संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परंतु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं! ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है।

* * * *

प्रकृतिजन्य सुखकी आसक्ति होनेपर सुख-दुःखकी परम्पराका कोई अन्त नहीं आता।

* * * *

परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी नहीं।

* * * *

भगवान्‌का भक्त कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है।

* * * *

स्वतःसिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है।

* * * *

भगवान्‌के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर संसारमें करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

* * * *

मनुष्य पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है और भगवान्‌को अपना मानता है तथा उनकी अनन्य शरण होता है तो सर्वथा स्वतंत्र हो जाता है।

* * * *

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, वही वास्तवमें पराधीनता है।

* * * *

जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गरीब रिक्शाचालक लड़केकी ईमानदारी

घटना मई सन् १९८४ ई०की है । शाहजहाँपुरके निकट एक गाँवमें मेरे भानजेका यज्ञोपवीत-संस्कार था । मैं वहाँके लिये सपत्नीक रवाना हुआ । साथमें मेरा भतीजा और भाभी—ये दो व्यक्ति और थे । रोडवेज-बसद्वारा जब हमलोग शाहजहाँपुर पहुँचे तो गर्रा नदी-पुल पार कर हमलोग बससे उतर गये और खनीत नदीके पुलतक जानेके लिये दो रिक्शे कर लिये । मेरे साथ सामानके नामपर हाथवाला झोला एवं एक अटैची थी । अटैचीमें यज्ञोपवीतमें भेट देनेके लिये तमाम कपड़े तथा कुछ रुपये भी थे ।

एक रिक्शेपर मैं और मेरा भतीजा सवार थे । दूसरे रिक्शेपर मेरी पत्नी और भाभी बैठी थीं । जिस रिक्शेपर जनानी सवारी बैठी थी, उसीपर अटैची भी रख दी गयी थी । इस रिक्शेको चौदह सालका एक लड़का चला रहा था, जिसकी कमीज और नेकर फटे हुए थे । वह निहायत गरीब मालूम पड़ रहा था ।

खनीत नदीके पुलपर आकर हमलोग रिक्शेसे उतर गये और रिक्शेवालेने अपनी सीटपर बैठे ही रिक्शे घुमा दिये और वे चले गये । मईके महीनेकी प्रचण्ड गर्मी थी । हमलोग प्याससे बेचैन हो रहे थे । हम सभीने संतरा एवं कोकाकोलाका सेवन कर प्यास बुझायी तथा दस-पंद्रह मिनट विश्राम कर जब गाँव जानेके लिये एक ताँगापर बैठने लगे, तब अटैचीकी याद आयी । पूछनेपर मालूम हुआ कि अटैची रिक्शेसे उतारनेकी याद ही न रही, वह रिक्शेपर ही रह गयी; परंतु रिक्सेवाला लड़का तो बीस मिनट पहले ही चला गया था । अब क्या उपाय किया जाय ? उसे कहाँ खोजा जाय ! हमलोग व्याकुल हुए खड़े थे । इतनेमें देखता क्या हूँ कि वही रिक्शेवाला लड़का रिक्शा भगाये लिये चला आ रहा है और पसीनासे तरबतर हो गया है । आते ही उसने हमलोगोंको देखकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की और कहने लगा कि 'भाई साहब ! मैं जब डेढ़ किलोमीटर दूर रिक्शा-स्टैंडपर पहुँचा और रिक्शेपरसे उतरा, तब आपलोगोंकी अटैची देखी । बस, मैं तुरंत ही रिक्शा लिये भागता आ रहा हूँ । मुझे यह भय लग रहा था कि कहीं आपलोग यहाँसे चले न गये हों । तब मैं आपलोगोंको कहाँ खोज करूँगा ? ईश्वरको लाख बार धन्य वाद, जो आपलोग मिल गये । यह अटैची लीजिये और अपना सामान देख लीजिये ।' उस रिक्शेवाले गरीब लड़केकी यह ईमानदारी देखकर हमलोगोंने एवं वहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्तिने उस लड़केको शाबाशी दी । हमलोगोंको जो प्रसन्नता हुई, उसका तो ठिकाना ही क्या ! हमलोग उसे इनाममें कुछ रुपये देने लगे, परंतु उसने अस्वीकार कर दिया । बहुत कहनेपर रिक्शा-स्टैण्डसे लोगोंके पासतक अटैची वापस लानेमें जो उसका किराया मात्र पाँच रुपये उसने लिये । शेष कुछ भी लेनेसे इन्कार कर चला गया । हमलोग प्रसन्न होते हुए गरीब रिक्शावालेको आशीषें देते हुए अपने गन्तव्य स्थानको चले गये । गरीब रिक्शेवालेकी यह ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा अनुकरणीय है —प्यारेलाल पाठक

(२)

साहससे भगवान्‌का सहारा

घटना कुछ वर्ष पूर्वकी है । हम तीन व्यक्ति राजस्थानके प्रतापगढ़-राज्यकी ऐतिहासिक राजधानी देवलिया भ्रमणके लिये साइकिलसे रवाना हुए । देवलिया लगभग ३० किलोमीटर दूर होगा, पर रास्ता बीहड़ जंगल, नदी, नालों और घाटियोंसे होकर जाता था । उन दिनों

सड़क भी नहीं थी, फिर भीलोंकी बस्ती लूटपाटकी घटनाएँ साधारण-सी बात थी।

हमलोग लगभग चार बजे शामको वहाँ पहुँचे। प्राचीन स्मारक, महल आदि देखते हुए संध्या हो गयी। दूसरे दिन प्रातः मेरे भाईको डाकघरकी ड्यूटीपर पहुँचना था। अंग्रेजी-शासन समयकी पाबंदीके लिये प्रसिद्ध ही था। इसी रात लौटनेके सिवाय कोई चारा नहीं था। रास्तेकी कल्पनासे हम निराश हो चुके थे। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति रातको लौटनेकी राय नहीं दे रहा था; क्योंकि जंगली जानवरों तथा लुटेरोंसे जानका भी खतरा था। हमारे पास अपनी रक्षाके लिये एक लकड़ी भी नहीं थी। साइकिलें उलटे व्यवधान उत्पन्न कर रही थीं। आशङ्का, भय और विवशताकी उधेड़-बुनमें हम तीनों आगा-पीछामें पड़े हुए थे। ऐसे समयमें कर्त्तव्य-निर्णय कठिन होता है। अँधेरा ज्यों-ज्यों बढ़ रहा था, हमारी स्थिति और भयावह होती जा रही थी। बीहड़ मार्ग और भयानक जङ्गलमें हम दोनों स्वयंको असहाय अनुभव करने लगे। भगवत्कृपाके अतिरिक्त अब कोई सहारा प्रतीत नहीं होता था। भगवत्कृपासे प्रतिक्षण भगवत्स्मृति होने लगी। सब ओरसे निराश होकर हम दोनों भगवत्-शरणागत हो गये। कुछ ही क्षणोंमें हमें ऐसा अनुभव हुआ कि कोई कह रहा है कि साहस-पूर्वक आगे बढ़ो। हमलोग साहस कर ज्यों-ही दुर्गके द्वारपर पहुँचे, त्यों-ही देखते हैं कि एक सैनिक-वेशधारी पूर्णतया शस्त्रोंसे सुसज्जित, कारतूसोंकी माला पहने दुनाली बंदूक कंधेपर तथा टार्च हाथमें लिये हुए मानो हमारी ही प्रतीक्षा करते हुए दिव्यदूतकी तरह खड़ा है।

उस बीहड़ मार्गमें उसे देखकर हमें अपनी आँखोंपर भी संदेह होने लगा; परंतु जैसे ही उसने हमें देखकर प्रतापगढ़ जानेका मार्ग पूछा, हमारी गयी हुई श्वास मानो लौट आयी। नेकी और पूछ-पूछ। वह हमारे साथ प्रसन्नतासे हो लिया और हमें पिस्तौल, बंदूक और तलवार देकर चलाना भी सिखाया। इसके पश्चात् वह हमारे साहसको लगातार बढ़ाता हुआ चला। जीवनमें पहली ही बार हमने पिस्तौल और बंदूक चलायी।

सब खतरोंको लाँघते हुए हम रात तीन बजे प्रतापगढ़की सीमामें आ गये। वहाँ पहुँचते ही वह अज्ञात व्यक्ति हमसे एकदम विदा लेकर रात्रिमें खो गया।

ईश्वर अपने आश्रितोंकी किस प्रकार सहायता करता है, जीवनमें यह विचित्र अनुभव था और विशेषकर यह कि यदि सच्चे हृदयसे भगवत्-शरणागत होकर मनुष्य साहसपूर्वक आगे बढ़े तो ईश्वर उसकी सहायता अवश्य करता है।

—डा० ब्रह्मनन्दन सक्सेना

(३)

दूकानदारकी ईमानदारी

घटना मार्च ८४की मध्यप्रदेशराज्यके दतिया नगरकी है। वहाँके एक दूकानदारके घर सायंकाल दुर्गापुर गाँवका एक कहाँर आया। वह अपने साथ रिटायर्डमेण्टमें प्राप्त साठ हजार रुपयोंका थैला और उसमें रखी पेंशनकी पासबुक भी वहींके स्टेट बैंकसे लेकर आया था, जिसे वह वहीं दुकानमें ही छोड़ गया।

दूकान बंद करते समय दूकानदारने उस थैलेको देखा। उन्होंने उसी समय रातको एक आदमी दुर्गापुर गाँवमें उस कहाँरके पास भेजा। कहाँर तबतक धनकी चिन्तासे अर्धविक्षिप्त-सा हो गया था। दुर्गापुर गाँव दतियासे लगभग पाँच किलोमीटर दूर है। उसे उसके रुपये और पासबुक सुरक्षित रहनेकी बात बता दी गयी। प्रातः वह व्यक्ति आया और सेठजीने उसे वह रुपयोंका थैला तथा पासबुक दे दी। उसने कृतज्ञतामें सेठजीके पैर छूकर कहा, आज भी संसारमें ईमानदारी है। —रामजी शरण शर्मा

मनन करने योग्य

दयालु बादशाह

जर्मनका सम्राट् जोसेफ द्वितीय अत्यन्त दयार्द्र हृदयके व्यक्ति थे। वे प्रायः साधारण वस्त्र पहनकर प्रजाकी परिस्थिति जाननेके लिये अकेले ही निकल पड़ते। एक बार वे इसी प्रकार गलियोंमें घूम रहे थे कि एक गरीब लड़का उनके सामने आया और बोला—'महाशय! कृपा करके मुझे कुछ पैसे दीजिये।' 'लड़का सम्राट्को पहचानता नहीं था, परंतु सम्राट्के दयालु चेहरेको देखकर उसको साहस हो गया और उसने पैसोंकी याचना की।' लड़केका करुणाभरा मुँह देखकर बादशाहको दया आ गयी। उन्होंने कहा—'बच्चे! तेरा चेहरा देखनेपर ऐसा लगता है कि तूने थोड़े ही दिनोंसे भीख माँगनी आरम्भ की है।'

बच्चेने कहा—'महाशय! मैंने कभी भीख नहीं माँगी। हमारी स्थिति जब बहुत बिगड़ गयी, तब आज मैं पहले-पहल पैसे माँगने निकला हूँ। कुछ दिन हुए मेरे पिताजी मर गये। हम दो भाई हैं। हमारे पास कुछ भी नहीं है, जिससे हम अपना पेट भर सकें और न कोई सहायता ही करनेवाला है। एक माँ है जो बहुत बीमार है और बेहाल खटियापर पड़ी है।' यों कहते-कहते लड़केका गला भर आया।

सम्राट्ने पूछा—'तेरी माँकी दवा कौन करता है?'

लड़केने कहा—'महाशय! दवा कौन करता? हमारे पास दवाके लिये पैसा कहाँ है? इस दुःखसे ही तो मैं आज विवश होकर भीख माँगने निकला हूँ।'

लड़केकी बात सुनकर सम्राट् जोसेफका हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने बालकसे घरका पता पूछकर उसके हाथमें कुछ रुपये देते हुए कहा—'जा, जल्दी डाक्टरको ले जाकर माँको दिखला। राहमें कहीं देर न करना।' बच्चा खुश होकर डाक्टरको बुलाने दौड़ा।

इधर बादशाह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसके घर पहुँचे, उन्हें मालूम हो गया कि उसकी माँकी हालत बहुत खराब है। उन्होंने देखा वह खटियापर पड़ी है और उसका एक छोटा बच्चा पास बैठा रो रहा है। बादशाहने अपनेको डाक्टर बतलाकर उसकी बीमारीका हाल और कारण पूछा। बादशाहके शब्दोंमें बड़ी मिठास थी और उनमें स्नेह भरा था। यह देखकर उस स्त्रीने कहा—'महाशय! मेरे रोगका कारण तो असलमें हमारी यह बुरी आर्थिक दशा है। कुछ दिन पहले मेरे पतिका देहान्त हो गया। जो कुछ पूँजी थी, सब महाजनोंमें डूब गयी। बच्चे अभी बहुत छोटे हैं, मेरे पास ऐसा कोई साधन नहीं, जिससे मैं उनका पेट भर सकूँ। मुझे अपने मरनेकी चिन्ता नहीं है, पर 'पीछे मेरे अनाथ बच्चोंका क्या होगा? इस चिन्तासे मेरा जी जला जा रहा है। मुझे अत्यन्त दुःखी देखकर बड़ा लड़का आज मेरी दवाके लिये कहीं पैसोंका प्रबन्ध करने गया है।'

गरीब माँ-बेटोंकी दुर्दशा देखकर बादशाहने आँसूभरी आँखोंसे कहा—'बहनजी! आप घबराएँ नहीं। भगवान्की कृपासे आप शीघ्र ही अच्छी हो जायँगी और आपको पैसे भी प्राप्त होंगे। मुझे एक कागजका टुकड़ा दीजिये तो मैं आपके रोगकी दवा लिख दूँ।'

घरमें और कागज तो था नहीं, उसने लड़केके पढ़नेकी पुस्तकका पिछला पन्ना फाड़ दिया।

बादशाहने उसपर कुछ लिखकर उसे रोगिणीको दे दिया और कहा—'मैंने इसमें दवा लिख दी है, इससे

आपकी सारी बीमारी मिट जायगी।' इतना कहकर वे वहाँसे चले गये।

कुछ देर बाद लड़का डाक्टरको लेकर आया। लड़केने आते ही प्रसन्नताके साथ कहा—'माँ! तू घबरा मत, मुझे रुपये भी मिल गये हैं और मैं डाक्टरको भी ले आया हूँ।' लड़केको प्रसन्न देखकर माँको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसकी आँखोंसे हर्षके आँसू निकल पड़े। उसने बच्चेका मुँह चूमकर कहा—'बेटा! प्रभु तुझे लम्बी आयु दें। अभी पहले भी यहाँ एक डाक्टर आया था, वह भी कागजपर कोई दवा लिख गया है। डाक्टर बड़ा ही दयालु था, बेटा!'

उसकी बात सुनकर लड़केके साथ आये हुए डाक्टरने कागज लेकर पढ़ा और उसमें स्वयं सम्राट् जोसेफका हस्ताक्षर देख आश्चर्यसे कहा—'अब तो आपका सारा संकट ही कट गया। मेरे पहले जो डाक्टर आया था, वह कोई सामान्य डाक्टर न था। वह जो दवा लिख गया है, वैसी दवा देनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। उस दवासे आपका बड़ा लाभ होगा। बहन! वे स्वयं जर्मनीके बादशाह जोसेफ द्वितीय थे, और इस कागजपर आदेश लिख गये हैं कि आपको राजकोषसे बहुत बड़ी धनराशि दी जाय।'

यह सुनकर उस स्त्री और उसके बच्चोंका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। वे हर्षसे सराबोर हो गये और कुछ भी बोल न सके। जब जबान खुली, तब गद्गद वाणीसे प्रभुसे जोसेफ बादशाहके अचल राज्य और दीर्घ आयुष्यके लिये प्रार्थना करने लगे। उनका रोम-रोम आशीर्वाद देने लगा।

डाक्टरने भी दवा दी और वह स्त्री जल्दी ही अच्छी हो गयी। सब सुखसे रहने लगे। बादशाहकी दयालुता और बच्चेका मातृ-स्नेह—जिसके कारण वह भीख माँगने निकला—जगत्के लिये आदर्श बन गया।

शक्तिकी रक्षा कीजिये

शक्तिकी महत्ताको जानकर अपनी शक्तिको नष्ट होनेसे बचाइये। जिस प्रकार कृषक पानीकी प्रत्येक बूँदको खेत और बागके उपयोगमें लाता है और जिस भाँति इंजीनियर पानीके झरनेकी शक्तिको केन्द्रित कर, बिजली बनाकर अनेकों प्रकारसे उपयोगी बनाता है, उसी प्रकार हमें अपनी शक्तिको व्यर्थ कामोंमें खर्च न कर, आत्मविचार और जीवनोद्देश्यके पथको प्रशस्त करनेमें लगाना चाहिये। बड़ा आदमी वह नहीं है, जिसके पास बिशाल सम्पत्ति हो। बड़ा आदमी वह है, जो निष्काम भावसे सेवा करना जानता है, जो सहृदय है, जिसने ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य आदि गुणोंको अपना लिया है, जिसे अपने शास्त्रोंका ज्ञान है और जो तदनुसार जीवनमें आचरण करता है। चाहे वह व्यक्ति कुरूप ही क्यों न हो, गरीब ही क्यों न हो, चाहे उसके पास पहननेको फटे-चीटे कपड़े हों। चाहे वह रूखी-सूखी रोटी खाता हो, तो भी वह दुनियाका एक महापुरुष है।

शक्तिके नष्ट होनेके तीन महाद्वार हैं—(१) उपस्थेन्द्रिय, (२) मुँह और (३) मन। हमारा जितना अनिष्ट उपस्थेन्द्रियके द्वारा होता है, उतना किसीसे भी नहीं; शत्रुसे भी नहीं। क्या कभी बैठकर इस विषयपर हमने विचार किया कि इससे कितनी शक्ति नष्ट होती है? जाने या अनजाने कामासक्त हो एक अमूल्य तत्त्व क्षणिक सुखके लिये पानीकी तरह बहा दिया जाता है। यौवनका जोश इस वस्तुके मूल्यको आँकने ही नहीं देता और रुपये-पैसेमें इसका मूल्य आँका ही नहीं जा सकता। इस वस्तुको एक बार खो देनेपर फिर किसी भी मूल्यपर प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्म-साक्षात्कार या प्रभु-मिलन ही जीवनका परम ध्येय है, इसलिये वीर्यकी प्रत्येक बूँदका संरक्षण कीजिये। वीर्य ही परमशक्ति

है, समस्त तेजोंका तेज है, यही क्यों, यह तो जीवनका आधार ही है—**'जीवनं बिंदुधारणात्।'** (हठयो०) उसे स्थायी ओजमें परिवर्तित कीजिये ताकि बुद्धि तथा स्मरणशक्ति बढ़े और सुख-शान्तिका मार्ग सुगम हो। क्षणिक सुखके लिये ऐसी अमूल्य वस्तुको नष्टकर अपने-आपको नष्ट करनेमें कौन बुद्धिमत्ता है ?

मुँहसे हम अपने भावोंको व्यक्त करते हैं। लेकिन ध्यान रहे, बोलनेसे बड़ी शक्ति नष्ट होती है। उतना ही बोलिये, जितनेमें आपके आवश्यक कार्य सम्पन्न हो जायँ। पहले शब्दको तौलो और फिर मुँहको खोलो। यदि आप अनर्गल वार्तालाप नहीं करते हैं तो आपकी वाणी भी ओजस्विनी बन जायगी, उसे हित-मित वाणी बननेमें देर नहीं लगेगी। इसके लिये नित्य-प्रति प्रातः कुछ समय निर्वाक् बैठिये और मौन रखिये। भले-बुरे संकल्पोंको भी कुछ समयके लिये रोक दीजिये, इससे आप वागिन्द्रियपर काबू पा सकेंगे। आप अमित शक्ति अपने अंदर इकट्ठी कर सकेंगे। यहाँ महा-मौनके भीतर ही प्रभुका अस्तित्व मिल सकता है। ईश्वरकी भाषा मूक है। एकाग्रचित्त होकर उस मूक भाषाको, ध्वनिरहित वाणीको, अन्तश्चेतनाकी पुकारको ध्यानसे सुनिये।

व्यर्थकी बातों, गप्पों, मजाकों और सब प्रकारकी अनर्गल सांसारिक चर्चाओंसे मुँहके द्वारा शक्तिका ह्रास होता है। अधिक बोलनेवाले व्यर्थके विवादमें अपनी शक्तिका बिना लाभके अपव्यय करते हैं। आप कंजूससे पाठ सीखिये। कंजूसके धनकी भाँति हमें अपने शक्ति-धनको सुरक्षित रखना चाहिये। शुष्कवाद—व्यर्थका विवाद करना छोड़िये। हँसना स्वास्थ्यके लिये अच्छा है, लेकिन अत्यधिक हँसनेसे भी शक्ति विनष्ट होती है। भद्दी मजाक और हँसी-ठट्ठामें भूलकर भी प्रवृत्त न होइये, ये आपकी शक्तिके घुन हैं। सत्संग और स्वाध्यायके द्वारा निरन्तर शक्तिको बढ़ानेकी ही चेष्टा कीजिये।

मन बड़ा चञ्चल है। यह अभी यहाँ है, किंतु थोड़ी-सी देरमें सात समुद्र-पारकी यात्रा कर आता है। अभी भूतकालपर टीका-टिप्पणियाँ कर रहा था और अब भविष्यकी ऊँची-ऊँची योजनाएँ गढ़नेमें व्यस्त है। मन आपका सबसे बड़ा मित्र है और इससे बड़ा आपका दुश्मन भी शायद ही कोई हो। असच्चिन्तनमें प्रवृत्त आपका मन कितना अहित कर सकता है, उसकी कोई सीमा नहीं है। यही मन शुभ कर्ममें लगनेपर वाल्मीकि-सा ऋषि बना देता है। शक्तिके इन तीनों विकासकारी द्वारोंका अपूर्व सामञ्जस्य है। जहाँ आपने एककी भी उपेक्षा की, वहाँ झट दूसरा दण्ड दे देता है। सतत भगवच्चिन्तनद्वारा मनको पवित्र कीजिये। मनको शान्त कीजिये, उठते हुए गन्दे-भावों तथा अशुद्ध विचारोंको समाप्त कर दीजिये। मनको हृदयके भीतरी भावोंकी ओर ले जाइये, इससे अनन्त शान्तिका अनुभव होगा।

वीर्यरक्षणके लिये, मानसिक ब्रह्मचर्य-पालनके लिये एक ही अचूक ओषधि है—'अपने मनको सदा शुभ कार्योंमें व्यस्त रखना।' नित्य नियमितरूपसे प्रार्थना, जप, कीर्तन, धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय, सत्संग, ध्यान, निष्काम सेवा, धार्मिक चर्चा आदिसे मनको पवित्र बनाइये। व्यर्थका बोलना तथा सोचना छोड़ दीजिये। असत्-चिन्तन और कथनको अपना शत्रु समझिये। फिर क्रमशः आपकी प्रवृत्तियोंमें परिवर्तन होता चला जायगा। आपका चरित्र सुधरता जायगा। मनुष्यका चरित्र या चाल-चलन उसकी प्रवृत्तियोंका एक गट्ठर ही है, अन्य कुछ नहीं। अपने दैनिक कार्योंका निरीक्षण कीजिये, आदतें सुधारिये। फिर आपकी शक्ति अपने-आप संचित होती जायगी। आप शक्ति-पुञ्ज बन जायँगे। आप प्रभुके निकट पहुँचते जायँगे और मानवजीवन सफल हो जायगा।

संकीर्तन-आयोजकोंसे निवेदन

आगामी वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क 'संकीर्तनाङ्क'के रूपमें प्रकाशित होने जा रहा है। वर्तमान युगमें अशान्त विश्वकी शान्ति और परमकल्याणके लिये श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनकी विशेष आवश्यकता है। फलतः यत्र-तत्र देश और विदेशोंमें संकीर्तन हो भी रहे हैं और उनकी अपेक्षा भी अनुभूत हो रही है। वस्तुतः देशके कोने-कोनेमें अखण्ड संकीर्तन, मासिक संकीर्तन, साप्ताहिक संकीर्तन तथा दैनिक संकीर्तन आदि समारोहोंका आयोजन होना चाहिये। अस्तु !

जहाँ संकीर्तन (विशेषकर अखण्ड संकीर्तन) के आयोजन पहलेसे चल रहे हैं, उन स्थानोंके विवरण तथा सूचना हम विशेषाङ्कमें प्रकाशित करनेका विचार कर रहे हैं। इससे इस मङ्गलविधायक कार्यमें जन-साधारणको प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त होगा। अतः हम संकीर्तन-संघों, सभायोजकों एवं संकीर्तन-प्रेमियोंसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने आयोजनोंका संक्षिप्त विवरण भेजनेका कष्ट करें, जिसे हम प्रकाशित करते हुए भारतव्यापी सामूहिक संकीर्तन-आयोजनोंके लिये अनुरोध (अपील) कर सकें।—सम्पादक

'कल्याण'के ग्राहक महानुभावोंसे एक आवश्यक सानुरोध प्रार्थना

'कल्याण'के नये-पुराने सभी ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र निवेदन है कि वे अपने प्रेषित पत्रों तथा मनीआर्डर कूपनोंपर अपना शुद्ध पता, ग्राहक-संख्यासहित अवश्य अङ्कित किया करें। ऐसा करनेसे उनके पत्रानुसार कार्यकी शीघ्र सम्पन्नतामें अनावश्यक श्रम और विलम्ब न होगा। इस विषयमें कल्याणके माध्यमसे इससे पूर्व भी समय-समयपर अनेक बार सानुरोध निवेदन भी किया जाता रहा है; किंतु फिर भी प्रेमी ग्राहक-सज्जन इस महत्त्वशील विषयपर कोई ध्यान नहीं दे पाते। फलस्वरूप उन ग्राहक महानुभावोंको पत्रोंके उत्तर आदि मिलने और कार्य सम्पन्न होनेमें पर्याप्त विलम्ब और अनावश्यक अवरोध उत्पन्न होनेसे जो कष्ट और असुविधा होती है उसका हमें खेद है। कार्यालयको भी इसमें अनावश्यक श्रम एवं समय नष्ट करना पड़ता है। अतः इस असुविधाजन्य स्थितिसे बचनेके लिये अबसे सभी ग्राहक सज्जन पत्र-व्यवहार करते समय अपना पूरा पता शुद्ध, सही और सुस्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक सज्जन कृपया अपना वही पता पत्रोंमें लिखें जो हमारे कार्यालयमें पहलेसे अङ्कित है। अस्थायी पता लिख देनेसे भ्रमवश त्रुटि होनेकी सम्भावना बन जाती है। जहाँतक सम्भव हो पुराने ग्राहकोंको पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक-संख्याका उल्लेख प्रतिपत्रमें प्रत्येक बार करना चाहिये। आपका यह साधारण, पर महत्त्वपूर्ण सहयोग कार्यालयको अनावश्यक समय और श्रमसे बचाते हुए कार्यकी प्रगति तथा शीघ्र और सुचारु सम्पन्नतामें बड़ा ही सहायक होगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय' गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर (उ० प्र०)

'कल्याण'के प्राप्य विशेषाङ्क-इच्छुक सज्जनों और विक्रेताओंके लिये स्वर्णावसर

'कल्याण' अपने ५९ वर्षोंकी गौरवमयी प्रकाशन-शृङ्खलामें अबतक कुल अट्ठावन विशेषाङ्क प्रकाशित कर चुका है। (प्रथम वर्षमें विशेषाङ्क प्रकाशित नहीं हुआ था।) उनमेंसे अब निम्नाङ्कित केवल तीन विशेषाङ्कोंकी कुछ (सीमित संख्यामें) प्रतियाँ ही शेष रह गयी [illegible] अतः इच्छुक सज्जनोंको मनीआर्डर अथ[illegible]बैंकड्राफ्टद्वारा मूल्य अग्रिम भेजकर मँगानेमें शीघ्रता करनी [illegible] के पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह इनके भी समाप्त हो जानेपर प्रेमी सज्जनोंको निरा[illegible]

१—चारित्र[illegible]ङ्क

यह ५७ वें वर्ष (सन् १९८३) का विशेषाङ्क है। प्रायः सर्वत्र व्याप्त उच्छृङ्खलता, मदान्धता, निरङ्कुशता, यथेच्छाचारिता, मर्यादाहीनता, दुःशीलता, अनैतिकता, ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर, असंयम-अनाचार, दुर्गुण-दुराचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, हिंसा-हत्या, अतिचार एवं अत्याचारसे पीड़ित आजके मानवको चारित्र्य-शिक्षा, चारित्र्य-रक्षा, चारित्र्य-गठन एवं चारित्र्योत्थानकी नितान्त आवश्यकता है—इस दृष्टिसे यह विशेषाङ्क सदाचार और सद्धर्मप्रेरक, सद्ज्ञान एवं सात्त्विक भावोंको जगानेमें सहायक, उत्तरोत्तर पतनोन्मुख और अविवेकजन्य कुण्ठाओंसे ग्रस्त, अज्ञानान्धकारमें भटकते, निराश और किंकर्तव्यविमूढ़ मानव-मनके लिये एक प्रकाश-स्तम्भ (मार्गदर्शक) है।

पृष्ठ-संख्या ४३२, प्रसङ्गानुसार यथास्थान श्रीभगवान् तथा भगवद्विभूतियोंके अनेक सुरम्य रंगीन चित्रोंका समायोजन इसकी विशेषता है। मूल्य २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र डाक-खर्चसहित है। कम-से-कम २५ प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर पुस्तक-विक्रेताओं एवं वितरकोंके लिये मूल्यमें विशेष छूट—१५% (पंद्रह प्रतिशत) की गयी है।

२—मत्स्यपुराणाङ्क (पूर्वार्ध)

५८वें वर्ष (सन् १९८४) का यह विशेषाङ्क मूल, हिंदी-अनुवादसहित मत्स्यपुराणका पूर्वार्ध भाग है, जो फरवरी, ८४ के परिशिष्टाङ्कके साथ उपलब्ध है। संलग्न परिशिष्टाङ्कसहित कुल पृष्ठ-संख्या ७१८, रंगीन चित्र ८, मूल्य २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र। इस वर्षके अन्य कोई मासिक अङ्क उपलब्ध न होनेसे कोई भी अतिरिक्त साधारण अङ्क साथमें नहीं दिये जा सकेंगे। पुस्तक-विक्रेताओं एवं वितरकोंके लिये विशेष छूट—कम-से-कम २५ प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर १५% (पंद्रह प्रतिशत) कमीशन दिया जायगा। इच्छुक सज्जन इस सुअवसरसे स्वयं लाभान्वित हों एवं अपने इष्ट-मित्रोंको भी इस सुयोगसे लाभान्वित होनेकी प्रेरणा दें।

३—मत्स्यपुराणाङ्क (उत्तरार्ध)

५९वें वर्ष (सन् १९८५) का यह विशेषाङ्क—मूल, हिंदी-अनुवादसहित मत्स्यपुराणका उत्तरार्ध भाग है, जो ४ साधारण अङ्कों (फरवरीसे मई, ८५ तक) में उपलब्ध है। भारतीय पुराणवाङ्मयका यह अमूल्य ग्रन्थरत्न अपने विवेच्य विषयकी महत्त्वपूर्ण ज्ञानवर्धक और सर्वजनोपयोगी सामग्रीसे युक्त, भारतीय संस्कृति तथा धर्मदर्शनका दिग्दर्शन करानेवाला अद्वितीय संकलन है। पृष्ठ-संख्या ४३२, (मईतक ६३२) रंगीन चित्र ७, वार्षिक मूल्य २४.०० मात्र है। ग्राहक बननेवाले सज्जनोंको विशेषाङ्कके अतिरिक्त पूरे वर्षतक प्रतिमासके क्रमसे साधारण अङ्क (फरवरीसे दिसम्बर ८५ तक) निःशुल्क भेजे जायँगे। जो सज्जन गतवर्षका विशेषाङ्क—'मत्स्यपुराणाङ्क' पूर्वार्ध प्राप्त कर चुके हों, उन्हें विषयकी पूर्णताकी दृष्टिसे इस उत्तरार्ध भागका भी अनिवार्यतः ग्राहक बनकर अध्ययन, अनुशीलन करना समीचीन है।

पुस्तक-विक्रेताओंको विशेष सुविधा यह है कि चालू वर्षके विशेषाङ्ककी पचास प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर उन्हें १५% (पंद्रह प्रतिशत) कमीशन दिया जायगा।